गिजुभाई-ग्रंथमाला-9

प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियाँ

गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला-9

प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियाँ

To,
Ms Mamta Pandya
with best wishes
from:
Eklavya
Education
Foundation.

लेखक

गिजुभाई

अनुवाद

काशिनाथ त्रिवेदी

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर (चूरू) 331 802

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता-पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना ज़रूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव-प्राय हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियाँ' के प्रथम संस्करण के प्रकाशन का व्ययभार राजलदेसर की हमारी हितैषी तथा बाल शिक्षा में गहन रुचि रखने वाली श्रीमती हंसा देवी बैद ने सहर्ष वहन किया था। वे शिक्षकों-अभिभावकों की शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन की माध्यम बनी, इस योगदान के लिए संस्था की ओर से उनका कोटिशः आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए राजस्थान के यशस्वी शिक्षाविद्, शिक्षक और विचारक डॉ. श्यामलाल कौशिक का और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। काशिनाथजी ने तो गिजुभाई की समस्त गुजराती पुस्तकों को ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित करने हेतु दक्षिणामूर्ति-बालमंदिर, भावनगर की आचार्या श्रद्धेय विमलाबहन बधेका से भी हमारे लिए पत्राचार करके उनकी स्वीकृति प्राप्त की है। इसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति —कुन्दन बैद
राजलदेसर

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटका र उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उनकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हलका ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनःप्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं कि परम मंगलमय प्रभु को परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्दः तुभ्यमेव समर्पयेत् !**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित

करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. मां-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथापच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण, जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. शिक्षक हों तो
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई

थीं। शेष सब रचनाएं अब सन् 1987 से क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पद चिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान, के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हलका हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है !

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव-पीपल्याराव,

इन्दौर-451001

प्रवेश-वचन

लोग और शिक्षक, दोनों, यह मानते हैं कि पढ़ाना या सिखाना कौन कठिन बात है ? अपनी इस मान्यता के कारण ही हर आदमी अपने बालकों को घर में सिखाने बैठ जाता है, और मानता है कि यह काम वह खुद कर सकता है। इसी कारण विद्यालयों में हर किसी आदमी को शिक्षक का काम सहज ही मिल जाता है। शिक्षकों का सर्वेक्षण किया जाए, तो पता चलेगा कि अधिकांश शिक्षकों ने शिक्षाशास्त्र का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। यही नहीं, बल्कि शिक्षा विभाग में काम करने वाले लोगों में पुलिस विभाग, डाक विभाग और स्वास्थ्य-विभाग आदि विभागों से छुट्टी पाए हुए लोग भी आपको मिलेंगे। प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या बहुत ही कम मिलेगी। सैकड़ों गाँवों में अनगढ़ शिक्षक सिखाने का काम कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि लोग और शिक्षक दोनों मानते हैं कि शिक्षक के काम में रखा ही क्या है ?

लोगों का आम विचार यह है कि जो स्वयं पढ़ा-लिखा है, वह दूसरे को क्यों नहीं पढ़ा सकता ? जिसने खुद दवा पी हो अथवा ऑपरेशन करवाया हो, वह डॉक्टर नहीं बन सकता। जिसने रेलगाड़ी में यात्रा की हो, वह रेल-गाड़ी के इंजन का चालक नहीं बन सकता। जो बिजली के उजाले में पढ़ता है, वह बिजली पैदा करने का शास्त्र नहीं जानता। भाषा, भूगोल, इतिहास, गणित आदि विषयों का ज्ञान एक अलग चीज़ है। खुद अच्छी तरह गा लेना एक बात है, और दूसरे को गाना सिखा देना दूसरी बात है। ज्ञाता बनने में और उस्ताद बनने में बड़ा अन्तर है। ये दोनों दो अलग-अलग चीज़ें हैं। उस्ताद को अपने विषय के ज्ञान के साथ सिखाने की कला भी हस्तगत होनी चाहिए। जो जानता नहीं है कि अलग-अलग विषय किस प्रकार अलग-अलग ढंग से सिखाए जा सकते हैं, वह सिखाने का काम तो नहीं कर सकता, लेकिन वह दूसरों के दिमागों में जानकारी जरूर ठूंस सकता है। और जब जानकारी ठूंसने का काम उसको मुश्किल मालूम होता है, तो वह डण्डे से पीटता है। पढ़ाने की पद्धति न जानने वाला आज का शिक्षक सज़ा या इनाम की मदद से ज्ञान को विद्यार्थी के दिमाग में ठूंसता रहता है और उसको ज्ञान के बोझ से कुचल देता है।

सिखाना एक कला है, और पद्धतियाँ इस कला के औजार हैं। जिसके पास औजारों के उपयोग का ठीक ज्ञान होता है, वह शिक्षक धीरे-धीरे ही क्यों न

हो, सिखाने की कला में कुशल हो जाता है। किन्तु जिसने कोई तैयारी की ही नहीं है, वह तो सिखाने की कला से हमेशा दूर ही रहता है। सिखाने की कला के लिए पद्धति के ज्ञान के साथ ही मानसशास्त्र का ज्ञान, शरीरशास्त्र का ज्ञान और विषयों के महत्व का आकलन आदि भी अपेक्षित हैं। शिक्षक को पद्धति के साथ ही इन दूसरी बातों को भी आत्मसात करना होता है। यों करते-करते ही शिक्षक सिखाने की कला में निपुण बन सकता है। इस निपुणता के लिए ही पद्धतियों का ज्ञान शिक्षक के लिए उपयोगी होता है।

—गिजुभाई

भूमिका

इस पुस्तक की प्रासंगिकता

यह पुस्तक सर्वप्रथम मूल गुजराती में सन् 1932 में प्रकाशित हुई थी। उस समय तक हमारे देश में शिक्षक-प्रशिक्षण आरम्भिक अवस्था में था, और जैसा कि गिजुभाई ने अपनी इस पुस्तक के प्रवेश-वचन में लिखा है, शिक्षक के लिए पढ़ा-लिखा होना ही प्रायः पर्याप्त माना जाता था। सामान्य धारणा यह थी कि जो व्यक्ति स्वयं पढ़-लिख सकता है, वह दूसरों को भी पढ़ा सकता है। इसी कारण विद्यालयों में हर किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को शिक्षक के रूप में सहज ही काम मिल जाता था। केवल पढ़े-लिखे बेरोज़गार ही नहीं, पुलिस, डाक, स्वास्थ्य आदि विभागों से छुट्टी पाए हुए व्यक्ति भी शिक्षकों के रूप में काम करते पाए जाते थे।

कहना न होगा कि किसी भी दृष्टि से यह कोई वांछनीय स्थित नहीं थी।

उस समय यह पुस्तक निश्चय ही अति प्रासंगिक थी। इसके द्वारा गिजुभाई ने एक महती आवश्यकता की पूर्ति की थी।

लेकिन अब उस घटना को 56 से अधिक वर्ष बीत चुके हैं। एक पूरी अर्द्ध-शताब्दी से भी अधिक समय बीत चुका है।

और इस अर्द्ध-शताब्दी में मानो पूरी दुनिया ही बदल गई है। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक-प्रशिक्षण अब वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य भी बन चुका है। इस पुस्तक में दी गई अनेक शिक्षण-विधियां सामान्य जानकारी में आ चुकी हैं। अनेकानेक नवीन विधियां भी प्रकाश में आ गई हैं—आती जा रही हैं। इसी के साथ पिछले 25 वर्षों में घटित दो घटनाओं ने शिक्षण-कार्य को झकझोर कर रख दिया है। उनमें से एक है, शिक्षण-कार्य में मशीनों का प्रवेश, और दूसरी है, अविद्यालयीकरण आन्दोलन।

एक ओर शिक्षण-विषयक मशीनें जानी-मानी और प्रतिष्ठित शिक्षण-विधियों के सामने भारी चुनौती प्रस्तुत कर उनको कालातीत सिद्ध करने पर तुली हुई हैं। इतना ही नहीं, वे तो शिक्षक की युग-युगान्तर से प्रतिष्ठित संकल्पना को भी धूमिल कर देने पर उतारू हैं। ऐसी कहावतें चल निकली हैं कि पहले जहां कक्षा-कार्य शिक्षक के प्रवेश के साथ आरम्भ होता था, वहां अब पाठ आरम्भ करने के लिए (मशीनी) शिक्षक का बटनभर दबाना जरूरी हो गया है।

दूसरी ओर अविद्यालयीकरण का तूफान विद्यालयों को मृत घोषित करके उनका क्रिया-कर्म कर देने की गुहार लगा रहा है।

ऐसी बदली हुई परिस्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शिक्षण-विधियों पर अर्द्धशताब्दी पूर्व रचित पुस्तक का यह अनुवाद आज कितना उपादेय सिद्ध होगा ? इसको गुजराती भाषा-भाषी शिक्षकों की सीमित पहुंच से निकाल कर व्यापक हिन्दी-जगत् को सुलभ कराने में क्या लाभ होगा ?

कुल मिला कर प्रश्न यह है कि वर्तमान सन्दर्भ में इस पुस्तक की प्रासंगिकता क्या है ?

मेरा अपना विचार है कि इस पुस्तक की अपनी एक प्रासंगिकता है, और इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का निर्णय भी स्वागत-योग्य है। अपने इस विचार की पुष्टि में मैं दो तर्क देना चाहूंगा। लेकिन पहले मैं यह स्मरण करा दूं कि विचार गुजराती में लिखी और हिन्दी में अनूदित पुस्तक पर चल रहा है इस प्रकार स्पष्ट है कि बात भारतीय सन्दर्भ में हो रही है।

पहला तर्क शिक्षण-विषयक मशीनों और अविद्यालयीकरण-आन्दोलन को लेकर है। मशीनें निश्चय ही कुछ तथाकथित अति विकसित देशों की कक्षाओं में किसी सीमा तक प्रवेश पा चुकी हैं, लेकिन भारत जैसे देश में तो ये अभी तक द्वार पर ही दस्तक दे रही हैं, और वित्तीय तथा अन्य तकनीकी कारणों को देखते हुए इनके प्रभावी प्रवेश में (यदि वह कभी हो पाया तो) अभी कई दशक लगेंगे। जहां तक अविद्यालयीकरण का प्रश्न है, उसके व्यावहारिक पक्ष के समक्ष तो अभी तक अति विकसित देशों मे भी अनेक प्रश्न-चिह्न हैं। भारत में तो इसको शिक्षाविदों के मानसिक व्यायाम से आगे बढ़ने में अभी काफी लम्बा समय लगेगा। वर्तमान शताब्दी की तो बात ही छोड़ दें। ऐसा नहीं लगता कि इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभिक 20-25 वर्षों तक ये दोनों वर्तमान में प्रचलित शिक्षण-विधियों, शिक्षकों और विद्यालयों के समक्ष कोई वास्तविक चुनौती प्रस्तुत कर पाएँगे। इस प्रकार जब तक (कम से कम आगामी 40-50 वर्षों तक) वर्तमान शिक्षा व्यवस्था चलती है, तब तक शिक्षण-विधियों पर रचित प्रत्येक अच्छी पुस्तक के समान यह पुस्तक भी प्रासंगिक ही बनी रहेगी। और इस बात में सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि भाषा और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से यह पुस्तक प्राथमिक शिक्षकों के लिए आलोच्य विषय पर लिखी गई सर्वोत्कृष्ट पुस्तकों में गिनी जाने योग्य है।

मेरा दूसरा और अधिक सशक्त तर्क यह है कि प्रस्तुत पुस्तक इसलिये प्रासंगिक है और रहेगी क्योंकि यह स्व. गिजुभाई द्वारा रचित है। उन गिजुभाई द्वारा, जो सदैव गतिमान रहने के पर्याय बन चुके थे। शिक्षा के क्षेत्र में गिजुभाई का अर्थ है, सत्य का सतत् अन्वेषी। गिजुभाई, यानी वह, जो सदैव प्रयत्न और प्रयोग में लगा रहे; अपने अनुभव बताता रहे, लेकिन यह कभी न कहे कि जो उन्होंने जान लिया है वह ही अन्तिम सत्य है; उससे आगे खोजने को कुछ रहा नहीं है। वे गिजुभाई, जिन्होंने बालक और उसके शिक्षण को पुनःपुनः समझने और समझाने के प्रयत्न में अपना जीवन लगा दिया। जब भी एक दृष्टि से देखा तो सोचा कि यह ही एकमात्र दृष्टि नहीं है। दूसरी दृष्टि भी हो सकती है, और तीसरी, चौथी, पांचवीं और पचासवीं भी हो सकती है। प्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षाविद् जे. कृष्णमूर्त्ति कहा करते थे कि परिवर्तन की, नवीन दृष्टिकोण की यदि कोई विडम्बना है, तो यह है कि वे पुरानी रूढ़ियों को तो हटा देते हैं, लेकिन उनके स्थान पर नवीन रूढ़ियों को स्थापित कर देते हैं। गिजुभाई एक ऐसे क्रान्तदर्शी चिन्तक रहे, जो कभी किन्हीं रूढ़ियों के शिकार नहीं बने।

दुर्भाग्य से शिक्षा-जगत् में, विशेष रूप से, शिक्षक-प्रशिक्षण के क्षेत्र में, पुरानी रूढ़ियों के स्थान पर नवीन रूढ़ियाँ स्थापित करने का सिलसिला काफ़ी जोर-शोर से चलता रहा है। कोई नवीन तकनीक, नवीन विद्या आई नहीं कि मानो रामबाण औषधि हाथ लग गई। उसके आते ही पिछला सब कुछ निन्दनीय और त्याज्य बन गया। फिर और नवीन के आ जाने से उसका भी वही हश्र हुआ। किसी विधि के क्या दोष हैं क्या गुण हैं, यह तो आलोच्य विषय पर लिखी गई किसी भी पुस्तक में मिल जाएगा। लेकिन इस पुस्तक में जिन शिक्षण विधियों का समावेश गिजुभाई ने किया है, उनके दोष और सीमाएं गिनवाई हैं तो उनके उज्ज्वल पक्ष को भी न्यायोचित रूप में प्रस्तुत किया है। पूरी पुस्तक पढ़ जाने पर इसका मनन कर लेने पर जो बात मन में घर करती है, वह यह है कि सब कुछ कक्षा के स्तर, परिस्थिति, पाठ्य विषय की प्रकृति और शिक्षक के अपने ढंग पर निर्भर करता है। रामबाण जैसी कोई चीज़ होती नहीं है। शिक्षक के लिए आवश्यक है, कान और आँख खुली रखना और इससे भी अधिक आवश्यक है, अपने मस्तिष्क को खुला रखना।

विश्वास जगता है कि यह पुस्तक ऐसा कार्य करेगी, और यदि यह ऐसा कार्य करेगी, तो वर्तमान में इसकी प्रासंगिकता में सन्देह की भला क्या गुंजाइश रह सकती है!

श्री काशिनाथ त्रिवेदी का अनुवाद सरल, सरस, प्रांजल और अर्थवाही है। इसको पढ़ते समय लगता ही नहीं कि यह अनुवाद है। मूल का-सा आस्वादन विद्यमान है इसमें।

वैशाली नगर —श्यामलाल कौशिक
अजमेर

विषय-सूची

पर्याय शब्द
(अकारादि क्रम से)

हिन्दी	अंग्रेजी
उन्मेष-पद्धति	कॉन्सेण्ट्रिक प्लैन
कालक्रमानुसारी-पद्धति	क्रॉनोलॉजिकल मेथड
चलचित्र-पद्धति	एज्युकेशन बाय सिनेमा
जोड़ीदार-पद्धति	पार्टनरशिप मेथड
त्रिपद पद्धति	सेगुइन मेथड
दर्शन-पद्धति	बीकन मेथड
दृष्टान्त मूलक-पद्धति	इण्डक्टिव मेथड
नाट्यप्रयोग-पद्धति	ड्रामैटिक मेथड
प्रत्यक्ष-पद्धति	डायरेक्ट मेथड
प्रश्नोत्तर-पद्धति	क्वेश्चनिंग मेथड
पृथक्करण-पद्धति	एनेलिटिकल मेथड
मुखपाठ-पद्धति	रेसीटेशन मेथड
योजना-पद्धति	प्रोजेक्ट मेथड
व्याख्यान-पद्धति	लेक्चर मेथड
सिद्धान्त मूलक-पद्धति	डिडक्टिव मेथड
संयोगीकरण-पद्धति	सिन्थेटिक मेथड
स्वयंशिक्षण-पद्धति	ऑटो-एज्युकेटिव मेथड
स्वाध्याय-पद्धति	डॉल्टन मेथड

कैसे पढ़ाया जाए ?

शिक्षा के क्षेत्र में जो तीन बड़े और गम्भीर प्रश्न हैं, वे हैं, क्या पढ़ाना ? किसलिए पढ़ाना ? और कैसे पढ़ाना ? इन प्रश्नों के सही हल पर ही उपयोगी और ठोस शिक्षा की रचना की जा सकती है। शिक्षा से जुड़ी किसी भी योजना में इन तीन बातों को समान रूप से ध्यान में रखना चाहिए और इन तीनों के बीच तालमेल इस तरह बैठाना चाहिए कि परिणाम सुन्दर और लाभप्रद निकले। क्या पढ़ाना और किसलिए पढ़ाना, इसका ब्यौरा व्यक्ति की, समष्टि की और राष्ट्र की तात्कालिक और स्थायी आवश्यकताओं पर अवलम्बित है। इस कारण जो पढ़ाना है, उसकी पद्धति तो बदलती ही रहती है। इसीलिए शिक्षा की योजना भी बराबर बदलती रहती है। इसी तरह शिक्षा के विधि-विधान की रचना भी उस-उस समय के देशाभिमानी शिक्षा-शास्त्री और समर्थ विचारक किया करते हैं।

पढ़ाया कैसे जाए ? यह सवाल एक निराला ही सवाल है। इस सवाल का ब्यौरा समष्टि पर अथवा राष्ट्र पर ही निर्भर नहीं करता। इसी तरह इसका निर्णय काल के बल पर आधारित नहीं होता। चूंकि यह विषय शिक्षा-शास्त्र से जुड़ा हुआ है, इसलिए यह एक शास्त्रीय विषय है। अतएव इसकी रचना अधिकतर मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित होती है। अलबत्ता, जैसे-जैसे मानस-शास्त्र के सिद्धान्तों में परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता है, वैसे-वैसे पढ़ाने की पद्धति पर भी नया प्रकाश पड़ता रहता है, और उसमें परिवर्तन भी होते रहते हैं।

पढ़ाने की पद्धति का निर्णय अधिकतर मानस-शास्त्र के सिद्धान्तों पर निर्भर करता है, फिर भी यह निर्णय केवल मानस-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं होता। इसमें मानस-शास्त्र के साथ ही व्यक्ति का विचार भी बराबर करना होता है। इसलिए व्यक्तिगत विकास और मानस-शास्त्र के सिद्धान्त, इन दोनों के समन्वय पर पढ़ाने की पद्धति की नींव रखी जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति का विकास, दूसरे किसी व्यक्ति के विकास की तुलना में, किसी-न-किसी विषय में, भिन्न रहेगा ही। उस स्थिति में मानस-शास्त्र के

सिद्धान्तों का समान उपयोग होने पर भी, उतनी हद तक शिक्षा की पद्धति में फ़र्क जरूर पड़ेगा। इस दृष्टि से आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि जितने पढ़ने वाले होंगे, उतनी ही उनकी पद्धतियाँ भी होंगी। किन्तु इन परिवर्तनों के प्रकार और इनके स्वरूप इतने अधिक भिन्न नहीं होते। ये ऐसे परिवर्तन हैं कि इनको कुछ विभागों में बाँटा जा सकता है, और ऐसे विभागों को अलग-अलग पद्धतियों के रूप में पहचाना जा सकता है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विभिन्न प्रकार के विकास से परिचित मानस-शास्त्र के अध्ययनकर्ताओं ने और शिक्षा के व्यापक अनुभवों वाले व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा-पद्धतियों का संयोजन किया है। मतलब यह कि किन-किन विभिन्न पद्धतियों से पढ़ाया जा सकता है, इसका निर्णय उन्होंने अपने अनुभवों के आधार पर किया है। शिक्षा-पद्धति के बाल्यकाल में, अर्थात् उसके आरम्भिक दिनों में तो इस बात की रीति-नीति निश्चित कर ली गई थी कि मनुष्यों को क्या पढ़ना चाहिए, और इस बात के नियम भी बना लिए गए थे कि मनुष्य को कैसे पढ़ाया जाए ? ये नियम कभी व्यक्ति के विकास और मानस-शास्त्र के अनुरूप होते थे, तो कभी प्रतिकूल भी होते थे। शिक्षा का जब जो ध्येय रहा, उसके अनुसार उस-उस जाति या देश ने शिक्षा-सम्बन्धी अपने नियम बना लिए। जिनका शिक्षा-विषयक ध्येय मनुष्य का विकास नहीं बल्कि मनुष्य का सुख और उसकी सुविधा रही, उन्होंने अपनी शिक्षा-पद्धति भी लाभ-हानि को ध्यान में रखकर बना ली। जहाँ ऐसी पद्धति चलती है, यदि वहाँ शिक्षा का पैमाना एक-सा रहे और उसका स्वरूप नीरस बन जाए, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। अलबत्ता, ऐसी स्थिति हमेशा और हर जगह बनी नहीं है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि जिन देशों के इतिहास के माध्यम से उनकी शिक्षा-पद्धतियों के विकास को जाना जा सकता है, उन देशों में तो यह सब घटित हुआ ही है।

हाल ही शिक्षा-पद्धतियों की शास्त्रीयता की ओर शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ है। उन्होंने अब तक उत्पन्न हुई और विकसित हुई शिक्षा-पद्धतियों की समालोचना की है। इसी के साथ उन्होंने नई-नई शिक्षा

पद्धतियों की रचना भी की है, उन पद्धतियों पर अमल भी किया है, और उनमें सफलता भी प्राप्त की है। आजकल शिक्षा के क्षेत्र में किन-किन शिक्षा पद्धतियों का उपयोग किया जा रहा है, उनके लाभ क्या हैं, और उनकी हानियां क्या हैं, इन सब बातों का दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है।

:1:

व्याख्यान-पद्धति

पुरानी और सड़ी-गली पद्धतियों में व्याख्यान पद्धति अर्थात् उपदेशात्मक पद्धति का अपना अग्र स्थान रहा है। आजकल हमारे विद्यालयों में अधिकतर इसी पद्धति से शिक्षा का काम चल रहा है जब सरकार ने इस देश में शिक्षा-सम्बन्धी रीति-नीति का एक पैमाना तय किया, तो विलायत में जो शिक्षा-पद्धति पुराने समय से चली आ रही थी, उसी को इस देश में भी चलाया गया। इसलिए यहाँ इसकी जड़ें बहुत गहरी जमी हुई हैं। अब विलायत में तो इस पद्धति को बड़ी हद तक तिलांजलि दी जा चुकी है, किन्तु अपने इस देश की शिक्षा की गाड़ी तो बहुत ही धीमी गति से चलती है। तिस पर इस गाड़ी को चलाने वाला व्यक्ति न तो कोई ज़िम्मेदार व्यक्ति है, और न इस काम में उसकी कोई दिलचस्पी ही है। मतलब यह है कि यह सड़ी-गली पद्धति लगभग अपने मूल रूप में, अपने सारे दोषों के साथ, हमारे देश में टिकी हुई है, और हमारे बालक इसके शिकार बने हुए हैं।

व्याख्यान-पद्धति का स्वरूप कुछ इस प्रकार का हैः इस पद्धति में शिक्षक शिष्य के भोजन को खुद चबा देता है, और फिर शिष्य उसको रुचि-पूर्वक खाता है, इसका मतलब यह हुआ कि इस पद्धति में शिक्षक शिष्य के बदले उसके सारे काम करता रहता है, और शिष्य स्वयं बिना कुछ किए ही शिक्षा का परिणाम-भर बटोरता है। इसका नतीजा यह निकलता है कि जहाँ शिष्य को स्वयं ही कुछ करना चाहिए, जहाँ शिष्य को खुद ही सोचना और समझना चाहिए, वहाँ शिष्य के बदले शिक्षक ही सब कुछ करता रहता है। यदि हम इस स्थिति पर विचार करते हैं तो हमारे ध्यान में

यह बात आती है कि इसमें शिक्षक की भूमिका नौकर की और शिष्य की भूमिका सेठ की बन जाती है, क्योंकि इसमें शिक्षक शिष्य के लिए सब कुछ करता है, और शिष्य तो आराम के साथ बैठा-बैठा सुनता भर है। जिस तरह कोई पिता अपने बालक के बदले उसका भोजन खुद ही चबाकर उसके पेट में डालता है, और उसको पोषण देने का हास्यास्पद और व्यर्थ प्रयत्न करता है, उसी तरह इस पद्धति में शिक्षक शिष्य के बदले सब कुछ करके उसके दिमाग-रूपी पेट में ज्ञान-रूपी खुराक पहुँचाने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। इस पद्धति में शिक्षक शिष्य को सिखाता ही रहता है, किन्तु शिष्य शिक्षक से कुछ सीखता नहीं है। शिक्षक हमेशा अपने काम का हिसाब भी इसी तरह लगाता है कि उसने अपने शिष्य को क्या सिखाया, और अपने शिष्य के दिमाग में उसने कौन-कौन सी चीजें ठूँस दी। शिष्य ने खुद क्या सीखा, इसका कोई हिसाब शिक्षक के पास रहता नहीं है।

इस पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें विद्यार्थी को जितनी भी बातें मुंह से बोलकर और कान से सुनाकर सिखाई जा सकती हैं, उतनी तो बोल कर ही सिखाई जाती हैं। बोलने के अलावा दूसरी कोई अच्छी, सादी और सरल रीति हो भी, तो वह इसमें निकम्मी मानी जाती है। शिष्य स्वयं अपने अनुभव से जिन बातों को जान सकते हैं, यदि उनको मुँह से बोलकर याद रखवाया जा सकता है, तो उतना काफ़ी है। इस पद्धति का यह एक सूत्र ही है। यह पद्धति केवल कान की इन्द्रिय का उपयोग करती है। इसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी केवल कान के द्वारा ही ज्ञान पाना सीखते हैं। इसके कारण उनकी दूसरी इन्द्रियों का विकास रुक जाता है, और विद्यार्थियों की स्मरण-शक्ति पर हद से अधिक बोझ आ पड़ता है।

इस पद्धति से काम करने वाले शिक्षक अपने विद्यार्थियों से एकाग्रता की अधिक आशा रखते हैं। वे यह मान कर अपने मन में सन्तुष्ट रह लेते हैं कि अपने विद्यार्थियों से वे जो भी कुछ कहते हैं, सो सब विद्यार्थी समझ लेते हैं। सिखाए जाने वाले विषय के प्रति विद्यार्थियों में कोई रुचि न होने पर भी चूँकि सिखाने या पढ़ाने की रीति का सारा आधार एकाग्रता होती है, इसलिए शिक्षक

विद्यार्थियों में एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न करते रहते हैं। वे सज़ा और इनाम के, दण्ड और लालच के निरर्थक और हानिकारक साधनों का भी उपयोग करते हैं। संक्षेप में, यह पद्धति नाना प्रकार के प्रयत्नों द्वारा, स्मरण-शक्ति पर भारी बोझ डालकर, शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान-रूपी धन की विरासत को बिना किसी परिश्रम के विद्यार्थियों को सौंपने का प्रयत्न करती है।

इस पद्धति द्वारा दी गई शिक्षा के फलस्वरूप मनुष्य ज्ञान की एक जड़ तिजोरी भर बनकर रह जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसका मस्तिष्क एक ज्ञान-कोश का-सा रूप ले लेता है। किन्तु चूँकि यह ज्ञान निष्क्रिय बना रहता है। इसलिए यह निरुपयोगी होता है। चूंकि ज्ञान प्राप्त करते समय ज्ञान पाने वाला व्यक्ति स्वयं ज्ञान की खोज करके उसको प्राप्त नहीं करता है, इसलिए वह स्वयं उसका उपयोग भी नहीं कर पाता। यही कारण है कि आजकल के कई बहुत पढ़े-लिखे लोग भी बहुत पिछड़े हुए पाए जाते हैं। चूँकि इस पद्धति में सुन-सुन कर सीखने की व्यवस्था है, इस कारण इसमें विद्यार्थी अधिकतर सुनना ही सीखते हैं। चूँकि इसमें विद्यार्थी को अनुभव और प्रयोग द्वारा सीखने का कोई अवसर नहीं मिलता, इसलिए उसका ज्ञान तोते का-सा ऊपरी ज्ञान होता है, और उसकी बुद्धि का बहुत कम विकास हो पाता है। इस पद्धति में प्रयोगों के लिए कोई स्थान न होने के कारण, नए-नए प्रयोगों का अनुभव न होने से, और प्राप्त ज्ञान का कोई उपयोग न होने के कारण स्वयं विचार करने की विद्यार्थी की शक्ति अविकसित रहती है। इस सबका परिणाम यह होता है कि पढ़ा-लिखा आदमी भी तोते की कहानी वाले तोते की तरह ठूँसे हुए दिमाग़ वाला बन जाता है। यही कारण है कि अपने इस देश में शिक्षा के फलस्वरूप नई-नई बातें खोजने और नई चीजें पैदा करने वाले बहुत कम आदमी तैयार होते हैं। हमारे देश में बिलकुल नए रास्तों की खोज कर सकने वाले, नये साधनों की खोज करके उनका उपयोग करने वाले, स्वतंत्र विचारों की अपनी नई दुनिया रचने वाले, साहसी व्यक्ति, इतिहासकार, शोधक, आविष्कारक और स्वतंत्र विचारक बहुत कम हुए हैं, इसका एक कारण शिक्षा के क्षेत्र में चली यह व्याख्यान पद्धति भी है।

इस पद्धति की हिमायत करने वाले कहते हैं कि इससे कक्षाओं की व्यवस्था और समय की व्यवस्था के प्रश्न हल हो जाते हैं। थोड़े समय में बहुत से विद्यार्थियों को बहुत-कुछ पढ़ा देने की दृष्टि से यह पद्धति बहुत उपयोगी है। निश्चय ही इस कथन में थोड़ी-बहुत सच्चाई तो है ही। किन्तु ज्ञान-प्राप्ति की जिस पद्धति से बुद्धि का विकास रुकता हो, वह पद्धति थोड़े ही समय में ज्ञान की सारी विरासत सौंप देने की शक्ति रखती भी हो तो उससे लाभ क्या ?

पूरी-पूरी और प्रशंसनीय तैयारियों के साथ शिक्षक विद्यार्थियों को कोई भी विषय बहुत स्पष्ट रीति से सिखा दें, जब तक बात उनके गले न उतरे, तब तक वे उनको बराबर समझाते रहें, समझाने के लिए अनेक साधनों का, जैसे श्यामपट्ट, पुस्तकें, वस्तुएं, नक्शे, शब्दकोश और चित्रों आदि का भरपूर उपयोग करें, विद्यार्थियों के लिए सब कुछ सरल, समझने लायक और याद रहने लायक बना दें और फिर वे विद्यार्थियों से कहें कि दूसरे दिन विद्यार्थी सब कुछ याद करके आएं, इतना सब कुछ करने के बाद भी विचारणीय प्रश्न ये रह जाते हैं कि बुद्धि के विकास की दृष्टि से विद्यार्थी इसमें कितने आगे बढ़ते हैं, उनकी स्मरण-शक्ति को कितना लाभ होता है, अथवा उस पर कितना अवांछनीय बोझ पड़ता रहता है ? यहां यह प्रश्न बहुत गम्भीर और विचारणीय है कि सिर्फ़ बैठे-बैठे सुनते रहने में और सुनी हुई और समझी हुई चीज़ को याद रख लेने में शिक्षा की अपनी सार्थकता क्या है ?

आजकल हमारे विद्यालयों में व्याकरण, भाषा, कविता, इतिहास, भूगोल आदि विषय लगभग इसी पद्धति से पढ़ाए जाते हैं। इसलिए हम इनके परिणामों से अपरिचित नहीं हैं। ग्रामोफोन की नली में से जैसे गीत निकलते हैं, वैसे ही विद्यार्थी रूपी रेकार्ड उनको भली-भांति पकड़कर जब भी जरूरत पड़ती है, गाकर दिखा देते हैं। यह सब परीक्षा के दिन तक के लिए ही होता है। इसमें रेकार्ड का उपयोग कितना हुआ ? रेकार्ड को कितना लाभ पहुंचा ? इसके कारण व्यक्ति की कितनी उन्नति हुई ? उसका कितना विकास हुआ ? इसके फलस्वरूप उसको शिक्षा क्या मिली ? ये सारे सवाल सहसा उठते हैं।

चूँकि यह पद्धति हर तरह से खराब है, इसलिए यह छोड़ देने लायक है। विशेष रूप से प्राथमिक और बड़ी हद तक माध्यमिक विद्यालयों में से तो इसको निकल ही जाना चाहिए। हमारे दिलों में से यह लालच खतम हो जाना चाहिए कि इस पद्धति से काम जल्दी होता है। इस पद्धति के बदले हमको कोई ऐसी पद्धति अपनानी चाहिए, जो विद्यार्थी की बुद्धि का विकास कर सके, और विचार करने की उसकी शक्ति को बढ़ा सके, इस पद्धति में पढ़ाने वालों के यानी शिक्षकों के लिए कई आकर्षण हैं। यह शिक्षकों के लिए सबसे अधिक सरल है। यह बहुत सम्भव है कि चूंकि आजकल के हमारे शिक्षक इसी पद्धति से पढ़े हैं और वे इसके साथ बँध गए हैं, इसलिए इस पद्धति को छोड़ना उनके लिए कठिन हो सकता है। किन्तु चूंकि शिक्षक के धन्धे का मुख्य सूत्र विद्यार्थियों का हित रहा है, इसलिए शिक्षकों को इसका त्याग तुरन्त ही करना चाहिए। शिक्षक के इस त्याग में ही उसका शिक्षकत्व निहित है। इसका त्याग ही शिक्षक का सच्चा धर्म है।

कभी प्रसंगवश इस पद्धति का थोड़ा मर्यादित उपयोग, दूसरी पद्धति के साथ, बिना किसी नुक़सान के, किया जा सकता है। कुछ विद्यार्थियों के लिए और कुछ परिस्थितियों के लिए यह पद्धति कुछ हद तक उपकारक भी है। महाविद्यालयों के सयाने विद्यार्थियों के लिए इस पद्धति को हम हानिकारक न मानें, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं। विवेकशील शिक्षक को चाहिए कि उसको जब-जब भी इस पद्धति का उपयोग करना पड़ जाए, तब-तब वह इसका उपयोग बहुत ही विवेक-पूर्वक करे।

:2:

प्रश्नोत्तर-पद्धति

मनुष्यों के स्वभाव से और विद्यालयों में काम करने वालों के अनुभवों से यह जानकारी मिली है कि व्याख्यान-पद्धति की तुलना में प्रनोत्तर-पद्धति ऊँचे दरजे की है। व्याख्यान-पद्धति के मुख्य दोष ये हैं:

1. इससे खुद काम करने की और अनुभव प्राप्त करने की विद्यार्थी की रुचि दबती है, और

2. विद्यार्थी को सभी मामलों में दूसरों के निर्णय स्वीकार करने पड़ते हैं, इसलिए इसमें बुद्धि के विकास के लिए कम अवसर मिलते हैं।

प्रश्नोत्तर-पद्धति में ये दोष नहीं है। प्रश्नोत्तर-पद्धति में विद्यार्थी को हर एक गुत्थी खुद ही सुलझानी होती है। इसके कारण उसकी तुलनात्मक बुद्धि का और तर्क-शक्ति का विकास होता रहता है। प्रश्नोत्तर-पद्धति में विद्यार्थी निष्क्रिय रहकर केवल सुनता नहीं है, बल्कि प्रश्न का उत्तर देने के लिए उसको सक्रिय बनना होता है। इसके फलस्वरूप उसमें स्वयं क्रिया करने की शक्ति प्रकट होती है।

आमतौर पर प्रश्नोत्तर-पद्धति के नीचे लिखे लाभ गिनाए जाते हैं :

1. इससे शिक्षक को पता चल सकता है कि विद्यार्थी को कितनी जानकारी है और कितनी नहीं है।

2. शिक्षक यह भी जान सकता है कि विद्यार्थी कितना काम कर सकता है और कितना नहीं कर सकता।

3. इस पद्धति से शिक्षक इस बात का अन्दाज़ लगा सकता है कि उसने विद्यार्थी के साथ कितना काम किया है और उसका कितना काम विफल हुआ है।

4. प्रश्नोत्तर-पद्धति से शिक्षक अपने विद्यार्थी की स्थिति को समझ सकता है और वह कहां तक पहुँचा है, इसका पता लगाकर, उसको कहाँ से, किस तरह, आगे बढ़ाना है, इसके बारे में स्वयं निर्णय कर सकता है।

5. इसमें विद्यार्थी को भी इस बात का पता चलता रहता है कि वह स्वयं कितना सीख सका है और कहाँ, क्यों, कितना विफल हुआ है। इसके फलस्वरूप उसमें भविष्य की दृष्टि से अच्छी तैयारी करने की वृत्ति प्रकट होती है।

प्रश्नोत्तर-पद्धति जिस हद तक अधिक स्वाभाविक और शास्त्रीय है, उसी हद तक शिक्षकों के लिए वह कठिन भी है। यह पद्धति नया-नया जानने और समझने की बालक की अपनी वृत्ति पर आधारित है, अतएव इसमें शिक्षक के लिए मनुष्य के स्वभाव का और बचपन का अच्छे-से-अच्छा ज्ञान अपेक्षित है। यह पद्धति बालक के लिए ज्ञान-क्षेत्र के असीम द्वार खोल

देती है, इसलिए इसमें शिक्षक का बहुश्रुत होना आवश्यक है। इसके अलावा, चूँकि इसमें बालक से प्रश्न पूछ-पूछ कर उसको ज्ञान के रास्ते पर चढ़ाना होता है और बालक के प्रश्नों के ऐसे उत्तर देने होते हैं, जो बालक के विकास का पोषण करने वाले हों, इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षक को प्रश्न पूछने और प्रश्नों के उत्तर देने की कला का सुन्दर ज्ञान हो। इस पद्धति की सफलता शिक्षक के प्रश्न पूछने और प्रश्नों के उत्तर देने की कुशलता में निहित है। चतुर शिक्षक इस पद्धति का जितना सुन्दर और सफल उपयोग कर सकते हैं, साधारण शिक्षक के हाथों इसको उतनी ही हानि पहुँचती है।

प्रश्नोत्तर-पद्धति में शिक्षक किसी भी विषय का सीधा और सुस्पष्ट निरूपण करने के बदले प्रश्नों की एक परम्परा द्वारा विद्यार्थियों को विषय की ओर अभिमुख करता है और बाद में इन प्रश्नोत्तरों के माध्यम से ही सारे विषय को विद्यार्थी के सामने रख देता है। इस काम में सफलता प्राप्त करने लिए शिक्षकों को अपने प्रश्नों के लिए पहले ही तैयारी कर लेनी होती है।

इस पद्धति के लिए प्रश्न-माला की रचना करते समय शिक्षक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विद्यार्थी का 'ज्ञात' क्या है, अर्थात् वह क्या-क्या जानता है।

इस प्रश्न-माला की रचना की नींव में ज्ञात से अज्ञात में जाने का शिक्षा-शास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त रहा है। इस प्रकार के प्रश्न तैयार किए जाने चाहिए कि जिनसे जो विषय सिखाना है, उसके अंग क्रमशः प्रश्नों के द्वारा प्रकट होते रहें। सभी मनुष्य अपने स्वभाव से शिक्षक नहीं होते। इसलिए शिक्षकों को स्वयं साधारण प्रश्न ही तैयार कर लेने चाहिए। प्रश्न का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि उसके उत्तर में से दूसरा प्रश्न सहज ही प्रकट हो और इस तरह पूरा प्रश्न प्रश्नोत्तर की मदद से सामने आए। सीधे और सूचक प्रश्न कभी न पूछे जाएँ। सहज भाव से जिज्ञासा उत्पन्न करने वाला एकाध प्रश्न पूछ कर उस पर सारा ढाँचा खड़ा किया जाए। जब-जब विद्यार्थी गुत्थी सुलझाने में परेशानी अनुभव करें, तब-तब पूछे हुए प्रश्न के उत्तर का अन्दाज दे सकने वाले कुछ साधन, कुछ उपप्रश्न, वस्तुस्थिति आदि

उनके सामने रखे जा सकते हैं। इसी तरह विद्यार्थी की स्मरण-शक्ति को सहायता पहुँचाने अथवा उत्तेजित करने वाली सामग्री उसके सामने रखने में कोई आपत्ति नहीं। प्रश्न का उत्तर ग़लत आए, तो उसको ग़लत कहने के बदले कुछ दूसरे प्रश्नों के उत्तर निकलवाकर उत्तर की ग़लती समझा देनी चाहिए। प्रश्न स्पष्ट हो, छोटे वाक्यों वाला हो, समझ में आने लायक हो और सीधा हो। प्रश्न ऐसा होना चाहिए कि उसका एक निश्चित और अपेक्षित उत्तर ही निकल सके। संदिग्ध प्रश्न का उत्तर भी संदिग्ध ही मिलेगा। इसलिए ऐसे संदिग्ध प्रश्न अथवा दो अर्थो वाले प्रश्न पूछने ही नहीं चाहिए। यदि पूछे गए प्रश्न को विद्यार्थी समझ न सका हो तो प्रश्न को उसकी मूल भाषा में ही एक बार और दोहरा देना चाहिए। किन्तु यदि प्रश्न की भाषा में रही त्रुटि के कारण विद्यार्थी प्रश्न को समझ न सका हो, तो वैसा प्रतीत होने पर भाषा में उचित सुधार करके प्रश्न को नए रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।

यह मानना ग़लत होगा कि प्रश्नोत्तर-पद्धति से काम करने वाला व्यक्ति इसके साथ व्याख्यान-पद्धति का उपयोग कर ही नहीं सकता। इसी तरह यह मानना कि प्रश्नोत्तर पद्धति में हर छोटी-बड़ी बात को प्रश्न द्वारा निकलवा कर ही आगे बढ़ा जा सकता है, एक भ्रम है और मूर्खता भी है। बालक बिना प्रश्न के ही कितनी बातें जान सकते हैं, इसको ध्यान में रखकर और उनके पूर्वज्ञान का विचार करके प्रश्न-माला की योजना बनाई जाए, और कक्षा में शिक्षक प्रश्न-माला पर ही निर्भर न रहकर, परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन करता रहे, तभी अच्छा काम हो सकता है। विद्यार्थी जिस प्रश्न का उत्तर कभी दे ही नहीं सकता, अथवा जिस चीज़ की प्रत्यक्ष चर्चा किए बिना काम चल ही नहीं सकता, वैसी स्थिति में वस्तु का ज्ञान वस्तु की मदद से अथवा व्याख्यान-पद्धति से देने में ही समझदारी है। अन्यथा समय के व्यय के साथ पद्धति की उपयुक्तता में कमी आती है।

प्रश्नोत्तर-पद्धति विशेष रूप से प्राथमिक विद्यालयों की कक्षाओं में और माध्यमिक विद्यालयों की शुरू की कक्षाओं में सफल हो सकती है। माध्यमिक विद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में अथवा महाविद्यालयों में तो व्याख्यान-पद्धति की ही प्रधानता रहे, और प्रसंगानुसार प्रश्नोत्तर-पद्धति का

जितना लाभ लिया जा सके, उतना ले लिया जाए। बाल-मन्दिरों में भी इस पद्धति का थोड़ा उपयोग किया जा सकता है। किन्तु वहाँ तो अनुभव, प्रयोग और अवलोकन के सहारे ही ज्ञान का मार्ग खुलना चाहिए।

:3:

जोड़ीदार-पद्धति

शिक्षा के क्षेत्र में कक्षागत शिक्षा का स्थान घटने लगा है, और व्यक्तिगत शिक्षा को प्रधानता देने का श्रीगणेश हो चुका है। कक्षागत शिक्षा की अनेक हानियाँ ध्यान में आने लगी हैं, इसलिए अब जगह-जगह व्यक्तिगत शिक्षा के प्रयोग होते दीख रहे हैं। व्यक्तिगत शिक्षा के इन प्रयोगों में इटली की समर्थ महिला डॉक्टर मोण्टीसोरी को पूरी सफलता मिली है। किन्तु उनकी वह सफलता अभी बालकों तक ही सीमित है। इंग्लैंड में और बेल्जियम में व्यक्तिगत शिक्षा के जो प्रयोग चल रहे हैं, उनमें अच्छी सफलता मिली है। यह सफलता बड़ी उमर के बच्चों के बारे में भी मिली है। व्यक्तिगत शिक्षा के लिए जिन अलग-अलग पद्धतियों का उपयोग किया जा रहा है, उनमें एक पद्धति है, जोड़ीदार-पद्धति।

जोड़ीदार-पद्धति का मुख्य उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी अपनी शिक्षा स्वयं करने लगें, और वे शिक्षक का सहारा लेना कम कर दें। जब-जब शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं, तब-तब विद्यार्थी स्वयं कुछ पढ़ और समझ नहीं पाते और वे स्वयं ज्ञाता हैं, इस मान्यता के आधार पर उनको पढ़ाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी उतना ही सीखने का प्रयत्न करते हैं, जितना शिक्षक उनको सिखाते हैं। दूसरी तरफ, शिक्षक अपने विद्यार्थियों को जितना सिखाते हैं, यदि विद्यार्थी उतना सीख लेते हैं, तो शिक्षक अपनी शिक्षा को सफल मान लेते हैं।

इसका परिणाम यह निकलता है कि विद्यार्थी भविष्य में कभी भी दूसरों का अथवा अपना शिक्षक बन नहीं पाता। जोड़ीदार-पद्धति का गौण हेतु, किन्तु उतना ही महत्वपूर्ण हेतु यह है कि इसमें विद्यार्थी न केवल स्वयं अपना गुरु बन सकता है, बल्कि वह दूसरों का गुरु भी बन सकता है।

जोड़ीदार-पद्धति का एक और लाभ भी है। सामूहिक शिक्षा-पद्धति के द्वारा जो समय बचाया जा सकता है, उससे अधिक समय इस पद्धति से बच सकता है। जोड़ीदार-पद्धति विद्यार्थियों को आत्म-श्रद्धावान, स्वावलम्बी और उद्योगी बनाती है। यह पद्धति उत्तम-से-उत्तम विद्यार्थी से लेकर ठोट-से-ठोट विद्यार्थी तक सबको अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार सीखने का उत्साह और शक्ति देती है। और, यदि समय-समय पर घटती-बढ़ती योग्यता वाले विद्यार्थियों को छांटकर उनको ऊँची कक्षाओं में चढ़ा दिया जाए, तो बुद्धिमान विद्यार्थियों को विवश भाव से पिछड़े बिना ही अपनी योग्यता के अनुसार थोड़े समय में अपनी पढ़ाई पूरी कर लेने का अवसर देती है, और मन्दबुद्धि विद्यार्थियों को ज़बरदस्ती पीछे-पीछे घिसटने से बचाकर अपना समुचित विकास कर लेने का सन्तोष देती है।

जोड़ीदार-पद्धति का स्वरूप कुछ इस प्रकार का है। कक्षा के विद्यार्थियों की दो-दो की टुकड़ियाँ बनती हैं। टुकड़ियों में बंटे ये विद्यार्थी आपस में एक-दूसरे को सिखाते-पढ़ाते हैं, और ज़रूरत पड़ने पर शिक्षक की सहायता लेकर अपने मनपसन्द विषय में मनचाही हद तक शिक्षा लेते-देते हैं। लगभग समान शक्तियों वाले विद्यार्थियों की जोड़ी बनाई जा सकती है। जहाँ विषयों की पढ़ाई अनिवार्य न हो, वहां समान शक्ति और रुचि वाले विद्यार्थियों की जोड़ियाँ बनाई जा सकती हैं। फिर भी इन जोड़ीदारों में से एक को दूसरे से कुछ बढ़ कर होना ही चाहिए। जोड़ियाँ बन जाने के बाद अध्ययन के लिए विद्यार्थियों के सामने जो विषय रखना हो, उस विषय की पाठ्यपुस्तक, अथवा जहां पाठ्यपुस्तक के मामले में एक से अधिक पुस्तकें पसन्द करने की छूट हो, वहाँ वे पुस्तकें, अथवा यदि वह विषय किन्हीं साधनों की मदद से सिखाया जाने वाला हो, तो वहां आवश्यक साधन कक्षा के सामने रख देने चाहिए। जोड़ी की रुचि के अनुसार जोड़ी के जोड़ीदार पुस्तकें पसन्द करें और पहले हर एक जोड़ीदार स्वतन्त्र रीति से उन पुस्तकों का अपना अध्ययन शुरू कर दे, अध्ययन के समय खड़ी होने वाली कठिनाइयों के लिए विद्यार्थी अपने जोड़ीदार से और यदि उसको जानकारी न हो, तो कक्षा के किसी भी विद्यार्थी से वह अपनी कठिनाई के बारे में चर्चा

कर सकता है। इसके बाद भी कुछ पूछना या जानना ज़रूरी रहे, तो अन्त में वह अपने शिक्षक से पूछ सकता है। इस प्रकार जब शिक्षक और विद्यार्थियों की सलाह से कक्षा के विद्यार्थी अपनी पसन्द का काम या पाठ पूरा कर लें, तो वे वह काम अपने जोड़ीदार को सौंप दें। जब एक जोड़ीदार अपने काम को पूरी तरह से जान ले, तो दूसरे जोड़ीदार का काम है कि वह पहले जोड़ीदार से उनको सीख ले। इसी तरह दूसरे जोड़ीदार को चाहिए कि वह पहले जोड़ीदार से वह काम सीख ले, जिसको वह सीख चुका है। इस प्रकार जोड़ीदार आपस में एक-दूसरे के शिक्षक बन जाते हैं और हर एक विद्यार्थी यह अनुभव करने लगता है कि वह भी अपने विषय को जानता है, और दूसरे को सिखा भी सकता है इसके कारण सारी कक्षा में आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षक की थोड़ी-सी मदद से विद्यार्थी स्वयं बहुत कुछ सीख सकते हैं। किन्तु जब विद्यार्थी स्वयं एक-दूसरे से पूछ कर सीखते हैं, तो उसमें उनसे कुछ भूलें हो सकती हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक खासतौर पर पूरी कक्षा में बराबर घूमता रहे और जहाँ-जहाँ, जिनकी, जो भी भूल हो रही हो, उनकी उन भूलों को सुधारते रहने की सावधानी वह ज़रूर बरते। यदि पाठ्यपुस्तक एक ही हो, तो उसके थोड़े-थोड़े पाठों की एक-एक छोटी पुस्तक तैयार करके कई पुस्तकें बना ली जाएँ और वे विद्यार्थियों के सामने रख दी जाएँ। इन पाठों वाली पुस्तकों में से कौन से पाठ वाली पुस्तक लेनी है, इसका निर्णय विद्यार्थी खुद अपनी इच्छा के अनुसार करें। जहाँ एक साथ अलग-अलग कक्षाओं के विद्यार्थियों को पर्याप्त आहार दे सकने वाली पुस्तकें उनके सामने रखी जा सकें, और जहां अध्ययन के स्थूल प्रमाण की रीति-नीति कठिन न हो, वहां तो शिक्षक को चाहिए कि वह तरह-तरह की पुस्तकें पसन्द करके विद्यार्थियों के सामने रखता रहे। इस व्यवस्था के फलस्वरूप विद्यार्थी अपनी योग्यता के अनुसार पुस्तकें खोज सकते हैं, और बिना किसी उतावली के और बिना किसी भय के वे अपने अध्ययन में सन्तोषजनक प्रगति कर सकते हैं। विद्यार्थियों को जिन साधनों का उपयोग करना है उन साधनों की व्यवस्था भी इस तरह की जानी चाहिए कि

जिससे विद्यार्थियों को एक साथ अनेक विषयों पर काम करते समय किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई का सामना न करना पड़े। उदाहरण के लिए, शब्दकोश के समान पुस्तक को कई टुकड़ों में बाँटकर उसकी अलग-अलग पुस्तकें तैयार कर लेनी चाहिए, जिससे एक ही शब्दकोश एक साथ सबके काम में आ सके। इस पद्धति में शिक्षक को बहुत सावधान रहना होता है। जब इस पद्धति के अनुसार काम शुरू होता है तो अकसर शिक्षक के सामने पूरी कक्षा के विद्यार्थियों की कठिनाइयों को दूर करने का काम एक साथ आ खड़ा होता है। पूरी कक्षा शहद की मक्खियों की तरह उद्योग में रमी टोलियों का-सा रूप ले लेती है। वैसे, इस पद्धति में विद्यार्थी खुद ही सीखते-पढ़ते हैं, फिर भी इसमें शिक्षक को इतना अधिक व्यस्त हो जाना पड़ता है कि उसको सांस लेने की भी फुरसत नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि हर एक विद्यार्थी अलग-अलग सीखता है, और हर एक विद्यार्थी नए-नए विषयों का अध्ययन करता है। इस कारण साधारण कक्षा में जो काम तीन घण्टों में हो पाता है, इस कक्षा में वही काम विद्यार्थी एक घण्टे में कर सकते हैं। इसलिए उस हद तक शिक्षक को व्यस्त रहना ही पड़ता है। शिक्षक का काम है कि वह विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाए। इसलिए उसको, जहाँ तक सम्भव हो, उनका मार्गदर्शन बराबर करते ही रहना है। इसी के साथ विद्यार्थियों की प्रवृत्ति के स्वरूप को ध्यान में रखकर शिक्षक को विद्यार्थियों के सामने हर एक पाठ के अलग-अलग विभागों को, जैसे—वाचन, लेखन, वर्तनी आदि को, इस तरह रखना चाहिए कि विद्यार्थी अलग-अलग विभागों पर काम करने लगें, और शिक्षक उनका मार्गदर्शन कर सकें।

विद्यार्थियों की प्रगति का पता लगाने के लिए जोड़ीदार-पद्धति में परीक्षा जैसी पद्धति बहुत कारगर नहीं हो सकती। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि वह प्रत्येक विद्यार्थी से विषयवार नोंधबहियाँ रखने को कहे। इन बहियों में विद्यार्थी अपने अध्ययन की प्रगति को टीपता रहे। इस रीति से काम करने के अलावा प्रत्येक विद्यार्थी की अध्ययन-सम्बन्धी प्रगति की टीप को ध्यान में रखकर शिक्षक विद्यार्थी को उसकी शक्ति के अनुसार नया काम देता रहे। यदि इस पद्धति में अलग-अलग जोड़ियों के साथ बीच-बीच में

शिक्षक स्वयं भी एक जोड़ीदार बनकर काम करे, तो उससे विद्यार्थियों को विशेष लाभ हो सकता है।

:4:

नाट्य-प्रयोग-पद्धति

मनोविज्ञान के जानकर लोग कहते हैं कि हम में अनुकरण की वृत्ति सहज ही होती है। यह वृत्ति दूसरी प्रेरणाओं के समान ही एक प्रेरणा है। बचपन में इस प्रेरणा का बल अधिक होता है। बालक जो कुछ भी देखते या सुनते हैं, उस सबका अनुभव स्वयं ही करने के लिए वे बहुत उत्सुक रहते हैं। इसलिए अपनी देखी या सुनी चीज़ को हर तरह से अपने सामने खड़ी करने का प्रयत्न वे करते रहते हैं। ये प्रयत्न उनके अनुकरणशील स्वभाव के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, और यहीं से उनके नाट्य-प्रयोगों का आरम्भ होता है।

हम देखते हैं कि जो घटनाएँ उनके आस-पास दिन-रात घटती रहती हैं, नन्हें बच्चे उनका अभिनय अपने छोटे-छोटे खेलों के रूप में बराबर करते ही रहते हैं। यदि हम बालकों के इन छोटे-छोटे खेलों को ध्यान से देखेंगे, तो हमको स्पष्ट ही पता चलेगा कि बच्चों के ये सारे खेल बड़ी उमर वाले लोगों के बड़े-बड़े खेलों की नक़ल का ही रूप लेते रहते हैं। बच्चों के गुड्डा-गुड्डी के खेल, गाड़ी-गाड़ी के खेल, घर-घर के और दुकान-दुकान के खेल अथवा ऐसे ही दूसरे अनेक खेल के घर बड़े-बूढे लोगों के काम-काजों की छोटी-छोटी प्रतिकृतियाँ होती हैं। बालकों के अनुकरणशील स्वभाव में से उत्पन्न होने वाले ये सब खेल उनके छोटे-छोटे नाट्य-प्रयोग ही होते हैं।

अपने इन प्रयोगों द्वारा बालक प्रत्यक्ष घटने वाली घटनाओं का अनुभव स्वयं करते हैं। वे घटी हुई घटनाओं को अथवा दूर के दृश्यों को अपनी आंखों के सामने खड़ा करके उनका उपयोग करते हैं, और इस तरह वे अपनी कल्पना-शक्ति और सृजन-शक्ति का पोषण करके उसको सुदृढ़ और तीव्र बनाते हैं। अपने इन प्रयोगों द्वारा बालक शिक्षक की सहायता के बिना, और शिक्षक के निर्देश के बिना भी अपने शरीर और मन की

भिन्न-भिन्न शक्तियों का विकास करते हैं। इनके कारण उनकी अवलोकन-शक्ति में सूक्ष्मता आती है, और घटने वाली घटनाओं से भली-भांति प्रभावित होने की और उन घटनाओं को व्यक्त करने की उनकी शक्ति का विकास होता रहता है। इस तरह बालकों के विकास में नाटक का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना हुआ है। यह एक अलग बात है कि बालक अपने इन प्रयत्नों को नाट्य-प्रयोगों के रूप में जानते और मानते हैं या नहीं। इसमें महत्व की बात तो यही है कि बालकों के लिए ये प्रयत्न सहज हैं, और अपने इन प्रयत्नों द्वारा ही वे हर एक चीज़ को समझने का सीधा और सच्चा रास्ता खोज सकते हैं। अपने प्रयोगों द्वारा ही बालक काल्पनिक ज्ञान के बदले वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, और विद्यालय में पढ़े बिना ही वे अपने को शिक्षित बना लेते हैं।

यदि बालकों की इस वृत्ति को शिक्षा के कार्य में उचित स्थान दिया जाए, तो आजकल जो काल्पनिक ज्ञान बड़ी मात्रा में दिया जाता है, और सचाई का या वास्तविकता का ज्ञान बहुत ही कम मिलता है, उसके बदले सचाई सम्बन्धी उनका ज्ञान बढ़ सकेगा, और काल्पनिक बातों का ज्ञान भी उनको एक मर्यादित रूप में मिलता रहेगा। इस तरह विद्यालयों की पढ़ाई पर बालकों की उमर का जो निरर्थक व्यय लगातार होता रहता है, वह रुक सकेगा।

बालकों की इस सहज वृत्ति को यूरोप के कुछ देशों के मनोवैज्ञानिकों ने और शिक्षा-शास्त्रियों ने पहचाना है, और उन्होंने इसका व्यावहारिक उपयोग करना भी शुरू कर दिया है, फ्रॉबेल ने अपनी योजना में बालकों की इस वृत्ति को सुन्दर स्थान दिया है, और इस वृत्ति को आधार मानकर बाल-कथाएं कहने और बाल-कथाओं के सहारे नाटक खेलने की अपनी भूमिका खड़ी की है।

फ्रॉबेल के बाद बाल-कथाओं में रुचि लेने वाले शिक्षकों में ब्रायण्ट और केथर के नाम सामने आते हैं। उन्होंने इस विषय पर अधिक प्रकाश डाला है और यूरोप तथा अमेरिका के कुछ स्वतंत्र विद्यालयों में कथा-कहानी

के आधार पर नाट्य-प्रयोगों की गतिविधियाँ भी शुरू की है। कुछ उत्साही शिक्षकों ने बालकों की इस वृत्ति से शिक्षा-सम्बन्धी दूसरे विषयों में भी अलग-अलग रीति से लाभ उठाना शुरू कर दिया है। इतिहास, भूगोल, धर्म, समाज-शास्त्र, भाषा आदि-आदि विषयों को भी नाट्य-प्रयोगों के सहारे सिखाने की हिमायत की जाने लगी है, और कई स्वतन्त्र विद्यालयों में इस प्रकार के प्रयोग शुरू भी हो चुके हैं। यूरोप में इस विषय पर कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। किन्तु शिक्षा-शास्त्र के क्षेत्र में ये सारे विचार और प्रयोग अभी नये हैं, और नई शिक्षा के हिमायती लोग ही इस प्रकार के प्रयोग शुरू करने की सलाह आग्रह-पूर्वक देते हैं।

कइयों को खयाल है कि पुराने ज़माने में हमारे देश में भी नाट्य-पद्धति से शिक्षा देने की प्रथा प्रचलित थी, और उनकी यह बात किसी हद तक सच भी है। किन्तु आज तो हमारे सामने यह विचार और यह विषय एकदम नया ही है। आजकल हमारे विद्यालयों और महाविद्यालयों में वार्षिक स्नेह-सम्मेलनों के अवसर पर अथवा ऐसे ही दूसरे अवसरों पर नाटकों के कार्यक्रम भी होते हैं, किन्तु उनके साथ शिक्षा की कोई दृष्टि जुड़ी नहीं रहती, और उन कार्यक्रमों के फलस्वरूप कोई शिक्षा भी नहीं मिलती। इसलिए ये प्रयोग एक भिन्न प्रकार के प्रयोग माने जा सकते हैं। इन प्रयोगों का उन प्रयोगों के साथ कोई नाता-रिश्ता नहीं है, जिनको शिक्षा के क्षेत्र में स्थान देने की हिमायत आज की जा रही है, और आन्दोलन भी किए जा रहे हैं।

नये आन्दोलन से लाभ उठाने के लिए पहले हमको आगे बढ़ना चाहिए, और बालकों की रुचि को रास्ता दिखाने के लिए अपने विद्यालयों में नाट्य-प्रयोगों को उचित स्थान देना चाहिए। शिक्षा-सम्बन्धी हमारा दृष्टिकोण ऐसा बनता जा रहा है कि बालकों की रुचि का ही अनुसरण करके हमको उनकी सब शक्तियों का विकास उनके लाभ के लिए करना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखकर हम अलग-अलग विषयों के लिए अलग-अलग शिक्षा-पद्धतियों का और नई-नई शिक्षा-पद्धतियों का आयोजन-संयोजन कर रहे हैं।

ऐसी शिक्षा-पद्धति में बाल-स्वभाव और बाल-रुचि को अधिक-से-अधिक स्थान देना हमारा उद्देश्य है, अतएव बाल-रुचि के लिए अनुकूल नाट्य-प्रयोगों की गतिविधियों द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था व्यावहारिक है। यही नहीं, बल्कि वह उत्तम पद्धतियों में से एक पद्धति है, इसलिए उससे अच्छा लाभ भी उठाया जा सकता है। देखे हुए को करना और सुने हुए को अपने अनुभव का विषय बनाना, बालक की इस रुचि को ध्यान में रखकर नाट्य-प्रयोगों द्वारा उसको सिखाने का प्रयत्न करना, ज्ञान देने की और शिक्षण-कला की दृष्टि से रुचिकर ही होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इस पद्धति का उपयोग दूसरी पद्धतियों के साथ ही होना चाहिए। जो ज्ञान इस पद्धति की मदद से देना कठिन लगे, वह ज्ञान दूसरी पद्धति से दिया जाना चाहिए। इस पद्धति की जो विशिष्टताएँ हैं, उनका लाभ लेने के लिए ही नाट्य प्रयोगों द्वारा शिक्षा देनी है।

इतनी साधारण चर्चा के बाद अब हम यह सोचें कि माध्यमिक विद्यालयों में किस हद तक किन-किन विषयों का ज्ञान, नाट्य-प्रयोगों द्वारा दिया जा सकता है।

आमतौर पर आजकल के माध्यमिक विद्यालयों में भाषा, गणित, भूगोल और इतिहास की शिक्षा मुख्य रूप से दी जाती है। इनके अलावा, माध्यमिक विद्यालयों में धर्म, संगीत, शरीर-शास्त्र, विज्ञान और लोक-साहित्य जैसे विषय भी अधिकतर पढ़ाये जाते हैं।

भाषा, गणित, इतिहास और भूगोल जैसे विषयों को पढ़ाने में नाट्य प्रयोग द्वारा पढ़ाने की पद्धति का अच्छा उपयोग किया जा सकता है।

इसके उपरान्त, दूसरे सब विषयों को पढ़ाने में भी नाट्य-प्रयोग-पद्धति का सफल उपयोग कम या अधिक मात्रा में किया जा सकता है। ऊपर गिनाए गए तीन विषयों में भी इतिहास की पढ़ाई में नाट्य-प्रयोग-पद्धति अधिक सफल हो सकी है और हो सकती है। आगे चलकर कभी यह हो सकता है कि कुछ उत्साही शिक्षक दूसरे विषयों में भी इतिहास की-सी सफलता प्राप्त कर लें।

हेरिएट फैनूले जॉनसन नामकी एक बहन को नाट्य प्रयोग-पद्धति में अपूर्व विश्वास है। वे इसी पद्धति द्वारा इतिहास और दूसरे विषय पढ़ा रही हैं। इस पद्धति से इतिहास और दूसरे विषय किस प्रकार पढ़ाए जा सकते हैं, इसकी जानकारी उनके द्वारा लिखी गई पुस्तक[1] से मिल सकती है।

एडमण्ड होम्स नाम के एक लेखक को भी नाट्य-प्रयोग-पद्धति में बड़ी श्रद्धा है। उन्होंने एक पुस्तक लिखी है।[2] उसमें उन्होंने यूटोपियन नामक एक आदर्श विद्यालय का चित्र खड़ा किया है। माध्यमिक विद्यालय में नाट्य-पद्धति से शिक्षा कैसे दी जा सकती है, इसके संकेत हमको इस पुस्तक से मिलते हैं।

इतिहास पढ़ाने के अन्य उद्देश्यों के साथ एक मुख्य उद्देश्य यह है कि उसके द्वारा विद्यार्थी के मन में ऐतिहासिक दृष्टि जगाई जाए। विद्यार्थी ढेर-के-ढेर ऐतिहासिक तथ्यों को अपने दिमाग़ों में ठूँस लें, और जब ज़रूरत हो, तब उनको उगल दिया करें, इस विषय में वे अपनी शक्ति इतनी बढ़ा लें, फिर भी यदि उनमें ऐतिहासिक दृष्टि का विकास न हो, तो इतिहास का उनका सारा ज्ञान उनके लिये न केवल बोझ-रूप बनेगा, बल्कि वह उनके लिए हानिकारक भी हो सकता है। इतिहास के ज्ञान द्वारा भूतकाल में प्रवेश करने की और भूतकाल की गहराई में से मनुष्य-जीवन की रचना को समझकर भविष्य का निर्माण करने की शक्ति देने का काम इतिहास-शिक्षा का है। इसी तरह इतिहास पर यह भी ज़िम्मेदारी है कि वर्तमान में से भूतकाल में डुबकी लगा कर भविष्य के किनारे खड़े रहने की कल्पना-शक्ति का विकास करने का काम उसके द्वारा हो। यह दृष्टि और यह शक्ति तभी प्रकट हो सकती है, जब इतिहास की पढ़ाई नाट्य-पद्धति के माध्यम से हो। नाट्य प्रयोग-पद्धति एक ऐसा सुन्दर साधन है कि जिसकी मदद से इतिहास की दृष्टि देने का काम, विद्यार्थी के मन में विषय के प्रति रुचि जगाने का

1. इस पुस्तक का नाम है : 'दि ड्रामेटिक मेथड ऑफ टीचिंग'।
2. इस पुस्तक का नाम है : 'व्हॉट इज एण्ड व्हॉट माइट बी'-क्या है, और क्या हो सकता है ?

काम और तथ्यों को सरलता से याद रखने का काम किया जा सकता है। माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले इतिहास को एक महान् नाटक के अंक में और प्रवेश में बाँट कर यदि पूरे इतिहास को अर्थ से इति तक नाटक के रूप में खेला जा सके, तो कहा जाएगा कि सच्चे अर्थ में इतिहास पढ़ाया गया है।

निःसन्देह यह सब बहुत कठिन तो है। इसमें साधनों की और शिक्षकों की बड़ी कमी रहती है। किन्तु जिनको यह विषय पढ़ाना है, उनका स्वभाव ही नाटकमय होता है, इसलिए अधिकतर कठिनाइयां स्वयं ही समाप्त हो जाती हैं। हाँ, साधनों की दृष्टि से और सुयोग्य शिक्षकों की दृष्टि से कुछ करना ज़रूरी होता है।

भूगोल का विषय भी नाट्य-प्रयोगों द्वारा ही पढ़ाया जा सकता है। नाटक खेलकर पृथ्वी की गति की बात, रात और दिन की बात और ऋतुओं में होने वाले परिवर्तनों की बात समझाई जा सकती है। कोई एक विद्यार्थी (गोल-मटोल) पृथ्वी का रूप धारण करे , वह अपने सिर पर पृथ्वी का गोला रख ले और किसी सूर्य-रूप विद्यार्थी के चारों ओर घूमना शुरू कर दे। सूर्य-रूप विद्यार्थी के पास जो प्रकाश हो, उससे दिन बने, और दूसरी तरफ अंधेरा दिखाई दे। पृथ्वी के घूमने के मार्ग को निश्चित करने के बाद अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग ऋतुओं की जगहें दिखाई जा सकती हैं, और इस बात का अनुभव भी कराया जा सकता है कि पृथ्वी पर उसका कहाँ, कैसा, प्रभाव पड़ता रहता है।

कक्षा के अन्दर ही पहाड़, नदियाँ, नाले, समुद्र और धरती आदि के नमूने बनाए जा सकते हैं। बाद में कागज़ की बनी रेलगाड़ी में या नाव में बैठा कर विद्यार्थियों को कक्षा की फ़र्श पर बनाए गए अलग-अलग देशों की यात्रा करवाई जा सकती है। चित्रों की और दूसरे साधनो की मदद से अलग-अलग देशों की आबोहवा का, उनके रीति-रिवाजों का वातावरण खड़ा किया जा सकता है। दूसरे एक विद्यार्थी को उस देश का निवासी बनाकर और उसके साथ यात्रा का कार्यक्रम जोड़कर पूरी कक्षा के सब विद्यार्थियों को अलग-अलग देशों में रहने वाले लोगों की पोशाकें पहनना बहुत अच्छा लगता

है। जितनी बार वे अलग-अलग देशों के नागरिक बनकर यात्रियों को विभिन्न देशों की जानकारी देते हैं, उतनी ही बार यात्रियों के साथ विद्यार्थियों को और दूसरे लोगों को भूगोल का सही-सही ज्ञान प्राप्त होता रहता है। विद्यार्थी सोने की खोज में, कोयले की खोज में, गुफाओं की खोज में और ज्वालामुखियों की खोज में अपनी लम्बी यात्राओं पर रवाना होते हैं। कक्षा की फ़र्श पर पृथ्वी का जो चित्र बना होता है, उसके अलग-अलग स्थानों में वे अपनी खोज शुरू करते हैं, और खोज में मिली हुई चीज़ों को उन-उन जगहों में रखते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था की जा सकती है। इसी के साथ विद्यार्थी अलग-अलग धर्म की निशानी के साथ अलग-अलग स्थानों की यात्रा पर निकल सकते हैं। वे रास्ते में एक-दूसरे से मिल सकते हैं, आपस में अपने अनुभव एक-दूसरे को सुना सकते हैं, और इस प्रकार पूरी कक्षा को नई-नई चीज़ों की जानकारियाँ दे सकते हैं।

साहसी विद्यार्थी कोलम्बस और लिविंग्स्टन बन जाएँ। धार्मिक वृत्ति वाले विद्यार्थी फकीर या साधु के वेश में धर्मशाला में ठहर जाएँ। ऊधमी विद्यार्थी फौज खड़ी करके दूसरे देश पर हमला करने के लिए चल पड़ें। कोई आसमान के रास्ते उड़कर पृथ्वी का दर्शन करने निकलें। कोई समुद्र में नावें खेने के लिए दौड़ पड़ें। ये सारे काम कक्षा के अन्दर ही किए जाएँ। वहीं करने चाहिए।

इन सब बातों में बड़े-से-बड़ा और बलवान साधन तो विद्यार्थियों की अपनी कल्पना ही है।

यदि विद्यार्थी इस रीति से भूगोल पढ़ें, तो भूगोल का जो विषय आज उनको एकदम नीरस और रटने-घोटने का विषय लगता है, वह वैसा न रहकर उनके लिए बहुत आकर्षक और आनन्ददायक बन सकता है। बड़े-बड़े विशालकाय पहाड़ों को, लम्बे-चौड़े रेगिस्तानों को, और हिमालय की किसी चोटी पर बैठ कर भारत में बहने वाली अनेकानेक नदियों के उद्गम-स्थानों को देखने की कल्पना अपने आप में कितनी सुन्दर कल्पना है। इस तरह पढ़ाने या सिखाने से भूगोल का विषय न केवल आनन्ददायक बन जाता है, बल्कि वह बहुत उपयोगी भी सिद्ध होता है। विद्यार्थियों पर इसका

अप्रत्यक्ष प्रभाव यह पड़ता है कि वे साहसी, शोधकर्ता, और व्यापारी आदि बन सकते हैं। वे भूगोल के अपने ज्ञान को व्यवहार में उतार सकते हैं, और इस बात को भली-भाँति समझ सकते हैं कि जीवन में भूगोल की पढ़ाई का अपना क्या स्थान है।

भारत के समान बड़े देश के भूगोल को तो नाट्य-पद्धति द्वारा ही सिखाना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि हर एक विद्यार्थी सारे देश की यात्रा कर नहीं सकता। और वैसा अनुकूल समय आने तक भूगोल की पढ़ाई को रोका भी नहीं जा सकता। आज भारत में हमको व्यापारियों की, शोधकर्ताओं की और साहसी नागरिकों की आवश्यकता है। नाट्य-पद्धति द्वारा भूगोल पढ़ाने से इस आवश्यकता की पूर्ति का एक मार्ग किसी हद तक खुलता है।

गणित का विषय भी नाट्य-पद्धति द्वारा पढ़ाया जा सकता है। गणित के समय में कक्षा, कक्षा न रहकर एक दुकान, डाकघर, रेल के टिकट-घर, बैंक, शेयर बाजार और सर्राफा बाजार आदि का रूप धारण कर ले, तो गणित की पढ़ाई रोचक और सरल बन जाए, और विद्यार्थियों को इस बात की प्रतीति हो जाए कि जीवन में इन विषयों का अपना क्या उपयोग है। विद्यार्थी बैंकरों, अमानतदारों, शेयरों, ब्याज, डिस्काउण्ट और बिल ऑफ एक्सचेंज के प्रश्नों को समझने लगें। कम्पनी के डाइरेक्टर और शेयर होल्डर की भूमिका का अभिनय करके विद्यार्थी ब्याज, डिविडेण्ड, बोनस, स्टॉक्स और शेयरों की कुंजियों को समझ सकते हैं। वे अपनी कक्षा में बैठे-बैठे कल्पना के आधार पर बड़े-बड़े व्यापार कर सकते हैं, और हानि और लाभ का अन्दाजा लगा सकते हैं। गणित के एक सवाल को पट्टी पर या कागज पर लिखकर बैठे-बैठे उसका जवाब खोजने में और उसको प्रत्यक्ष अपने जीवन में उतारने में कितना अन्तर होता है ? इन दोनों के बीच जितना अन्तर होता है, उतना ही अन्तर शिक्षा की संगीनता में भी होता है।

भाषा की पढ़ाई में तो इस पद्धति का अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जा सकता है। सुन्दर-सुन्दर कविताओं का गान, सुन्दर-सुन्दर वाक्यों वाले भाषण, और गद्य-पद्य की सुन्दर कृतियों के नाटक, ये सब भाषा का ज्ञान

बढ़ाने और भाषा की आत्मा को समझने के बहुत उपयोगी साधन हैं। इस काम में संवादों और वाद-विवादों का भी अच्छा उपयोग किया जा सकता है। विद्यार्थी खुद ही अपनी रुचि के नाटक खोज लेने के शौक़ीन होते हैं। इस क्षेत्र में उनके इस शौक़ को पूरा-पूरा अवसर दिया जाना चाहिए। हम सब कुछ विद्यार्थियों की पसन्दी पर छोड़ दें। जहाँ सुधारने लायक भूलें होती दिखाई दें, वहाँ सहज भाव से ज़ल्दी सुधार करके हमको दूर ही रहना चाहिए। हम इस बात की सावधानी ज़रूर बरतें कि भाषा की दृष्टि से हमको जहां गम्भीर भूलें न दिखाई पड़ें, वहाँ उन भूलों को सुधारने के अपने प्रयत्नों में हम विद्यार्थियों के उत्साह को मन्द न पड़ने दें। शिक्षक स्वयं नाटक की कथा-वस्तु को पसन्द न करे। विद्यार्थियों द्वारा जो कथा-वस्तु पसन्द की गई है, उसकी उचित अनुमति देकर शिक्षक तटस्थ रह जाए। कक्षा में अदालतों के कान्फरेन्सों के, परिषदों के, हड़तालों के, घरेलू जीवन के और मनुष्य-जीवन के तरह-तरह के प्रसंगों को प्रस्तुत करके उन प्रसंगों के अनुरूप भाषा में नाट्य-प्रयोगों की रचना की जानी चाहिए। ऐसे प्रयोगों के फलस्वरूप विद्यार्थियों को भाषा के ज्ञान के साथ ही मनुष्य-स्वभाव के सहज लक्षणों का अच्छा अध्ययन हो जाता है। इसी तरह दूसरे विषयों को पढ़ाते समय भी नाट्य-प्रयोग- पद्धति का अच्छा उपयोग किया जा सकता है, और विद्यार्थियों को किसी भी विषय का ठोस और अचूक ज्ञान कराया जा सकता है।

विद्यार्थी तो जन्म से ही नाटक-प्रिय होते हैं, और वे तो इस पद्धति से पढ़ने के लिए तैयार ही रहते हैं। परन्तु प्रश्न शिक्षकों का है। शिक्षक स्वयं अभिनय-प्रिय न हों, वे विद्यार्थियों के साथ मुक्त मन से नाचने-कूदने की रुचि और शक्ति वाले न हों, नीबू के रस की तरह विद्यार्थियों में घुलमिल जाने की वृत्ति वाले न हों, और नाटक खेलते समय विद्यार्थी उनको बोझ-रूप लगा करते हों, तो उस स्थिति में नाट्य-प्रयोगों द्वारा पढ़ाने का काम एक जोखिम भरा काम बन जाता है।

नाट्य-प्रयोगों द्वारा पढ़ाने का प्रयोग तभी सफल हो सकता है, जब शिक्षक बालकों की गतिविधियों का उचित सम्मान करने वाले हों, और बाल-मन के प्रति सम्पूर्ण सहानुभूति रखने वाले हों। ऐसे अवसरों पर जो शिक्षक

विद्यार्थियों के साथ विद्यार्थी बन सकने की क्षमता रखते हों, जिनके मन में अपने बड़प्पन, विद्वत्ता, अधिकार और सत्ता का तनिक भी विचार न रहता हो, जो स्वयं भी नाटकों से लाभ उठाने और आनन्द अनुभव करने की शक्ति रखते हों, उन्हीं शिक्षकों को नाट्य-प्रयोगों द्वारा पढ़ाने का विचार करना चाहिए। यह पद्धति जितनी सुन्दर और लाभप्रद है, उतनी ही कठिन भी है। इसलिए जरूरी है कि इस पद्धति का प्रयोग करने से पहले शिक्षक स्वयं अपनी पूरी तैयारी कर लें और इस पर अपनी आत्मश्रद्धा सुदृढ़ बना लें।

चूँकि यह पद्धति कठिन है, इसलिए शिक्षकों को इससे सदा दूर ही रहना चाहिए, ऐसा कोई आत्मघातक निर्णय वे न करें। हम सब अपने जन्म से ही अनुकरणशील प्राणी हैं। नाटक खेलना हमारा सहज स्वभाव है। इसलिए यदि हम अपने ऊपर चढ़ी हुई कृत्रिमता की तहों को हटा देंगे, तो हम भी बालकों के समान बन सकेंगे, और उनके नाटकों में रुचि-पूर्वक भाग ले सकेंगे। यदि अपने बालकों के उद्धार के लिए हम स्वयं बालक बन जाएँगे, तो हमारे इस काम को कोई ग़लत नहीं कहेगा।

:5:

संयोगीकरण और पृथक्करण-पद्धतियाँ

शिक्षा में इन पद्धतियों का उपयोग अलग-अलग समय में करके शिक्षा के काम में सफलता पाई जा सकती है।

संयोगीकरण-पद्धति का मतलब यह है कि वस्तु अथवा विषय को पहले उसकी इकाई से अलग करके सिखाने के बाद समूची वस्तु का अथवा विषय का पूरा ज्ञान करा देना। पृथक्करण-पद्धति इससे बिलकुल उलटी है। पृथक्करण-पद्धति का मतलब यह है कि पहले वस्तु अथवा विषय का पूरा ज्ञान कराने अथवा उसको पूरी तरह सिखा देने के बाद पृथक्करण के द्वारा उसके अंगों और उपांगों को अलग-अलग दिखाकर उस विषय का ज्ञान करा देना।

बालकों की शिक्षा में इन दोनों पद्धतियों का उपयोग किया जा सकता है। अक्षरों का ज्ञान कराने के लिए दोनों पद्धतियों से प्रयत्न किए गए हैं। क, ख, के रूप में अक्षर सिखाकर भाषा सिखाने की पद्धति को

संयोगीकरण-पद्धति कहा जाता हैं, जबकि पहले शब्द सिखा देने के बाद शब्द को अलग करके अक्षर सिखाने की पद्धति को पृथक्करण-पद्धति कहा गया है। आज अंग्रेजी भाषा में भाषा सिखाने का काम संयोगीकरण की अपेक्षा पृथक्करण-पद्धति से शुरू करने की हिमायत बढ़ रही है। कारण यह है कि संयोगीकरण-पद्धति से शब्द सिखाने पर अंग्रेजी भाषा के उच्चारणों की विचित्रता कठिनाई खड़ी कर देती है। चूँकि अंग्रेजी भाषा के उच्चार का अनुसरण नहीं करती, इस कारण उसके शब्दों के हिज्जों में और उच्चारण में अन्तर उत्पन्न हो जाता है। इसलिए उनको पृथक्करण-पद्धति सुलभ मालूम हुई है।

किन्तु भारत में अक्षर सिखाने के लिए पृथक्करण-पद्धति को अपनाना अन्धा अनुकरण करने के समान है। हमारी भाषा उच्चार का अनुसरण करती है, इसलिए हमको तो मूलाक्षर संयोगीकरण-पद्धति से ही सिखाने चाहिए। इसके समर्थन में डॉक्टर मोण्टीसोरी की अक्षर सिखाने की पद्धति हमारे सामने है। इटालियन भाषा उच्चारानुसारी है, वह ध्वनि का अनुसरण करती है, इसलिए इटली में भी भाषा संयोगीकरण-पद्धति से सिखाई जाती है।

किण्डरगार्टन की शालाओं में अक्षर सिखाने के लिए खण्ड-पद्धति का उपयोग किया जाता है। इस पद्धति का मेल न तो संयोगीकरण-पद्धति के साथ हो पाता है, और न पृथक्करण-पद्धति के साथ ही हो पाता है। इस खण्ड-पद्धति में बालकों को पहले अक्षरों के हिस्सों का पूरा परिचय कराया जाता है, और बाद में पूरा अक्षर सिखाया जाता है। इसमें यह माना गया है कि बालक खण्डों को जल्दी पहचान सकेंगे, क्योंकि चन्द्राकार, रेखा या लकीर जैसे नाम देकर पहले खण्डों की पहचान कराई जा सकती है, और बाद में पूरा अक्षर बनाया जा सकता है। असल में यह पद्धति उलटी है। इसमें अक्षर के जो खण्ड बनते हैं, उनको **क** से भिन्न दो नए नाम देकर **क** के उच्चारण में और **क** दिखाकर सिखाने में दो चन्द्र और एक रेखा को बालक के दिमाग़ में नाहक़ ही घुसाया जाता है। इसमें बालक को पहले दो चन्द्र खण्ड और एक रेखा सीखनी होती है, और बाद में इनको भूल कर

इनसे बने **क** का उच्चारण सीखना होता है। मन की स्वाभाविक रचना से यह क्रिया उलटी है। असल में जिस तरह बालक दूसरी चीज़ों को पूरी-पूरी देख कर पहचानता है, उसी तरह **क** को देख कर वह उसको **क** के रूप में पहचानने की शक्ति रखता है। इसलिए चूँकि बुद्धि की मदद से उत्पन्न की गई यह पद्धति बालक की बुद्धि को भ्रम में डालती है, इसलिए छोड़ देने लायक है।

इसका यह मतलब नहीं कि सब कहीं संयोगीकरण-पद्धति ही आवश्यक है। संयोगीकरण अथवा एकीकरण-पद्धति का उपयोग विषय के स्वरूप को और बालक के मन को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

व्यापक रूप से कहा जाए, तो व्याकरण सिखाने में पहले पृथक्करण-पद्धति यानी भाषा का परिचय मुख्य होना चाहिए। भाषा के अच्छे परिचय के बाद, अर्थात् पुस्तक, पैरेग्राफ और वाक्य समझना और लिखना आ जाने के बाद, उनका पृथक्करण करके उन शब्दों का व्याकरण सिखाया जाना चाहिए।

भाषा की प्रगति को और उसके गठन को समझने के लिए व्याकरण संयोगीकरण-पद्धति से सिखाया जा सकता है। भाषा-शास्त्र का अध्ययन करने वालों के लिए यही ठीक है। परन्तु विद्यार्थियों को तो पहले भाषा सिखानी चाहिए, और बाद में उनको व्याकरण का बोध कराना चाहिये।

आजकल संगीत में संयोगीकरण-पद्धति का चलन है। अर्थात् संगीत के मूलाक्षर-स,र,ग,म से संगीत की शिक्षा शुरू की जाती है। इसके कारण संगीत का शिक्षण कठिन बन जाता है। असल में संगीत पृथक्करण-पद्धति से अथवा अधिक सही रूप में परिचय-पद्धति से सिखाया जाना चाहिए। रागों के स्वरूपों को सुन-सुनकर जब राग के घर ध्यान में बैठ जाते हैं, तब सुरों का परिचय कराने से संगीत की शिक्षा सुगम हो जाती है। इसके विषय में अधिक विस्तृत चर्चा श्रवण-पद्धति और परिचय-पद्धति की चर्चा के समय करेंगे।

भूगोल की शिक्षा में घर, गाँव, प्रान्त, यों क्रम-क्रम से आगे बढ़ते हुए जब समूची पृथ्वी का ज्ञान कराया जाता है, तो उसको

संयोगीकरण-पद्धति कहा जा सकता है। इसके विपरीत, पहले समूची पृथ्वी पर नज़र दौड़ाकर बाद में धीरे-धीरे उसके खण्डों का, फिर खण्डों के प्रान्तों का और प्रान्तों के अलग-अलग विभागों का ज्ञान कराया जाता है, तो उसको हम पृथक्करण-पद्धति कह सकते हैं। भूगोल का विषय तो उन्मेष-पद्धति से और दूसरी पद्धतियों से भी सिखाया जा सकता है।

आजकल विद्यालयों में कविता को कण्ठाग्र कराने के लिए संयोगीकरण-पद्धति का चलन है। मतलब यह कि दो-दो, चार-चार पंक्तियाँ रटवाकर कविता सिखाई जाती है। किन्तु कविता को ज़्यादा जल्दी याद करने के लिए पृथक्करण-पद्धति एक अच्छी पद्धति है। मतलब यह कि पूरी कविता को एक साथ बार-बार पढ़ते रहने से वह जबानी याद हो जाती है, और उस हालत में उसके खण्ड अपने आप कण्ठाग्र हो जाते हैं।

गणित में हम संयोगीकरण-पद्धति का उपयोग करते ही हैं, और वह उचित भी है।

हर एक विषय के दो भाग होते हैं। एक, उसका व्याकरण और दूसरा, उसका साहित्य। किस विषय में साहित्य को पहले सिखाना चाहिए, इसका निर्णय तर्क से नहीं, प्रयोग द्वारा सिद्ध करने के बाद ही करना चाहिए। अब तक तर्क के अनुसार सिखाने की परिपाटी चलती रही है। किन्तु वह सर्वथा सत्य नहीं है। इसलिए तर्क के साथ मनोविज्ञान का मेल बैठाकर संयोगीकरण अथवा पृथक्करण-पद्धति का, और कभी-कभी मिश्र-पद्धति का उपयोग करके शिक्षा के काम को सफल बनाना चाहिए।

:6:

सिद्धान्तमूलक और दृष्टान्तमूलक-पद्धति

शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन समय से इन दोनों पद्धतियों का अच्छा खासा उपयोग होता रहा है। प्राचीन काल के हमारे शिक्षक अधिकतर सिद्धान्त-मूलक पद्धति का अनुसरण करते रहे हैं। मतलब यह कि वे पहले सिद्धान्त सामने रखते थे, और सच्चे उदाहरणों द्वारा सिद्धान्त को समझाते थे। यानी उदाहरणों को दोहरा-दोहरा कर वे सिद्धान्त को सिद्ध किया करते थे।

गणित, भूमिति आदि विषय सिद्धान्त-पद्धति से सिखाए जाते हैं। इस पद्धति में बुद्धि से अथवा दलीलों से सिद्धान्त को समझाकर उसकी सचाई अथवा उसके परिणाम दिखाए जाते हैं। जो बात सिद्ध करनी होती है, उसको सिद्धान्त के सहारे दलीलें देकर सिद्ध किया जाता है।

दृष्टान्त-मूलक पद्धति इससे बिलकुल उलटी है। इस पद्धति में पहले अलग-अलग उदाहरण देकर हर उदाहरण के सामान्य सत्य पर से एक सिद्धान्त खड़ा किया जाता है। सब प्रकार के विज्ञानों में और प्रायोगिक शास्त्रों में इस दृष्टान्त-मूलक पद्धति का अनुसरण होता है। जैसे, मलेरिया बुखार के कुछ उदाहरणों का अध्ययन करने के बाद यह सिद्धान्त स्थापित करना कि मलेरिया बुखार मच्छरों के कारण आता है। इसी का नाम दृष्टान्त-मूलक-पद्धति है। विज्ञान नए सत्यों की खोज हमेशा इसी तरह करता है, और खोजे हुए सत्यों को दृष्टान्तों की मदद से बार-बार जांच कर सिद्धान्त निश्चित करता है।

सिद्धान्त-मूलक पद्धति में केवल तर्क की यानी दलीलों की, गुंजाइश रहती है। जब सूक्ष्म विचार-शक्ति के सहारे सिद्धान्त-मूलक-पद्धति से विषय को समझना सम्भव नहीं होता, तो उसको रटना ही पड़ता है। इस पद्धति में जहां तोते की तरह रटे हुए ज्ञान की गुंजाइश है, वहीं तर्क की शुद्धि की और सूक्ष्म और समृद्ध कल्पना-शक्ति की भी गुंजाइश है। इस पद्धति से सीखने वाले को केवल तर्क देकर नहीं चलना पड़ता बल्कि बुद्धि-बल से परिणाम को स्वीकार करके चलना पड़ता है। इसलिए यह पद्धति अनुभव की अपेक्षा बुद्धि के प्रदेश पर टिकी होती है। हमारे प्राचीन शिक्षकों का स्वभाव विशेष रूप से इस पद्धति की सहायता से आत्मज्ञान कराने का रहा। फिर भी कुछ भिन्न प्रकृति के विद्यार्थियों को वे दृष्टान्त-मूलक-पद्धति से भी सिखाते थे।

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ-जहाँ भी सम्भव हो, वहाँ-वहाँ हमको दृष्टान्त-मूलक पद्धति का उपयोग अधिक करना चाहिए। जब विशेष तथ्यों पर से हम विद्यार्थियों को सामान्य सिद्धान्तों पर ले जाते हैं, तब उनको विशेष तथ्यों का अवलोकन करना पड़ता है। तथ्यों का वर्गीकरण करके सम

और विषम तथ्यों को अलग-अलग करना होता है। और इस पर से तथ्यों के समूह के बारे में किसी सामान्य नियम का पता लगाना होता है। इसमें न केवल अवलोकन और तर्क के लिए अवकाश है, बल्कि प्रत्यक्ष प्रयोग करके आगे बढ़ने की विशेषता है। जहाँ सिद्धान्त-मूलक पद्धति में सिद्धान्त की सचाई को मानकर चलना होता है, जबकि इसमें तटस्थ बुद्धि से सचाई की खोज के लिए निकलकर और सत्यासत्य का अनुभव करके निर्णय करना पड़ता है। इस कारण यह ज्ञान बुद्धि और मन द्वारा अनुभवगम्य होने के कारण अधिक यथार्थ बनता है। इसके विपरीत, सिद्धान्त-मूलक पद्धति द्वारा प्राप्त ज्ञान बुद्धिगम्य और तत्त्व रूप रहता है। आज का युग विज्ञान का है, और विद्यार्थियों की शिक्षा-व्यवस्था में वैज्ञानिक दृष्टि का विकास बहुत महत्व की वस्तु है। इसीलिए बाल-कक्षा से लेकर आगे तक विद्यार्थियों को दृष्टान्त-मूलक पद्धति से पढ़ाना चाहिए।

आज हमारे प्राथमिक विद्यालयों में जो व्याख्यान-पद्धति चल रही है, वह सिद्धान्त-मूलक पद्धति का विकृत स्वरूप है। सिद्धान्त-मूलक पद्धति में सिद्धान्तों का प्रतिपादन दृष्टान्तों से करना होता है, जबकि व्याख्यान पद्धति में तो यही कहा जाता है कि 'जो मैं कह रहा हूँ, वह सत्य है, इसको स्वीकार करो, क्योंकि मैं कह रहा हूँ।' इस कारण दृष्टान्त-मूलक और सिद्धान्त-मूलक पद्धति की तुलना में भी व्याख्यान-पद्धति अधिक घटिया है।

प्राथमिक विद्यालयों में, जहाँ सूक्ष्म तर्क के सहारे विषय की शिक्षा दी नहीं जाती, बल्कि जहां बालक के विकसित तर्क को ध्यान में रखकर विषय का प्रतिपादन करना होता है, वहाँ समय बचाने की दृष्टि से सिद्धान्त-मूलक पद्धति अपनाने लायक है। सिद्धान्त-मूलक पद्धति के प्रचार में वृद्धि का कारण यह मान्यता है कि ज्ञान एक शक्ति है। किन्तु जब हम समझ सकते हैं कि ज्ञान स्वयं कोई शक्ति नहीं है, बल्कि ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति ही एक शक्ति है। और शिक्षा के क्षेत्र में दृष्टान्त-मूलक पद्धति मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करने के साथ ही उनको ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर खड़ा कर देती है।

दृष्टान्त-मूलक पद्धति से काम करने वाले शिक्षक को स्वयं अधिक तैयारी करनी होगी और अपने विद्यालय को एक प्रयोगशाला का रूप देना होगा। दृष्टान्त-मूलक पद्धति को प्रयोग पद्धति भी कहा जा सकता है। जिस तरह शिक्षक उदाहरण दे-देकर समझाता है, उसी तरह वह विद्यार्थियों से प्रयोग करवाकर भी उनको सत्यों का ज्ञान करा सकता है। आमतौर पर हम यह मानते हैं कि विज्ञान सिखाते समय उसकी प्रयोगशाला में ही अर्थात् उच्च विद्यालयों में ही ऐसी पद्धति का उपयोग किया जा सकता है। असल में जहाँ समझदारी के साथ हम इस प्रयोग-पद्धति का उपयोग करते हैं, वहाँ विद्यालय का कक्ष प्रयोगशाला बन जाता है, और विषय प्रायोगिक विज्ञान का रूप ले लेता है। मतलब यह है कि इतिहास, भूगोल आदि प्रत्येक विषय को सिखाते समय इस पद्धति का उपयोग किया जा सकता है।

:7:
त्रिपद-पद्धति

अंग्रेजी में इस पद्धति को सेगुइन की पद्धति के नाम से जाना जाता है। बालक जिस ढंग से खुद ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस ढंग के अवलोकन और अध्ययन के आधार पर सेगुइन नामक फ्रान्स के एक शिक्षाविद् ने इस पद्धति की खोज की है।

बालक अपनी स्वयंशिक्षा की क्रिया को नीचे लिखे प्रकार से चलाते हैं। पहले वे वस्तु मात्र को अपनी इन्द्रियों द्वारा और मन द्वारा देखते हैं। अर्थात् वे उनका इन्द्रियगोचर परिचय प्राप्त करते हैं। इसके बाद वे हम से पूछते हैं : 'यह क्या है ? यह क्या है ?' हम उनके अनुभवों के साथ नाम जोड़ देते हैं। इस प्रकार बालक अनुभवों के साथ नाम संज्ञा को जोड़कर इन्द्रियगम्य अनुभवों को संज्ञा-प्रदेश पर अर्थात् बुद्धि के प्रदेश पर अंकित करते हैं। इसके बाद बालक हम से पूछते हैं : 'ये क्या हैं ? ये क्या हैं ?' इस तरह पूछकर जिस संज्ञा को वे अपने मन से जानते हैं वह संज्ञा सही है या नहीं, इसको हमसे पूछकर वे अपने ज्ञान को दृढ़ करते हैं। इस समय बालक

अपनी समझ में भूल करने के बदले अथवा भूल को खोजने के बदले खुद ही अपने अनुभव को संज्ञा की मदद से बार-बार जोड़ता है, और इस तरह वह अपने ज्ञान को पक्का करता है। इसके बाद बालक हिम्मत के साथ हमारे पास आता है और हम से कहता है: 'यह घड़ी है, यह किताब है, यह मेज है।' बालक इस तरह कहता है, और हमारी सम्मति मिल जाने पर वह अपने मन में यह निश्चित कर लेता है कि उसका ज्ञान चौकस हो चुका है। बालक की अपनी स्वयंशिक्षा की इस रीति को सेगुइन ने शिक्षा के काम में नीचे अनुसार लागू किया है।

पहले सामान्य भूमिका के रूप में वस्तु के साथ बालक का परिचय होने देना। इसके बाद नीचे लिखे क्रम से तीन क़दम उठाना —

पहला क़दम : वस्तु को संज्ञा के साथ जोड़ना।

दूसरा क़दम : संज्ञा का नाम लेकर वस्तु के परिचय को पुष्ट करना।

तीसरा क़दम : इस बात का निश्चय करना कि वस्तु संज्ञा का ज्ञान हुआ है या नहीं।

उदाहरण के लिए, बालक को रंगों का ज्ञान कराना है, तो पहली भूमिका के रूप में बालक को रंगों की पहचान कराना। बाद में पहले क़दम के तौर पर दो विरोधी रंग लेकर रंग के साथ अर्थात् वस्तु दिखा कर वस्तु के गुण के साथ उसकी संज्ञा बालक को बताना। जैसे, 'यह लाल । यह नीला ।' इस समय बालक उसकी दृष्टि के क्षेत्र में आए हुए रंगों की संज्ञा को जानेगा।

इसके बाद दूसरे क़दम के तौर पर ऊपर बताए गए दो रंग बालक के सामने रखकर शिक्षक बालक से कहे : 'लाल दिखाओ, नीला दिखाओ।' बालक लाल और नीला शब्द सुनकर, यानी सूचित संज्ञा सुनकर संज्ञावाचक गुण दिखाएगा। अर्थात् वह लाल और नीला रंग दिखाएगा। यह दूसरा क़दम हुआ।

इसके बाद शिक्षक बालक से पूछेगा : 'यह कौन-सा रंग है ? यह कौन-सा रंग है ?' बालक कहेगा : 'यह लाल है। यह नीला है।' यह हुआ तीसरा क़दम। यहाँ बालक बिना किसी सुझाव के अथवा सहायता के पहले

दो क़दमों से उसको जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उस ज्ञान को सम्पूर्ण रीति से व्यक्त करता है।

बालक अपने आप जो सीखता है, जिस तरह सीखता है, उसके साथ हम इन तीन क़दमों की तुलना करेंगे, तो हमको पता चलेगा कि सेगुइन ने बड़ी चतुराई के साथ बालक की स्वयं सीखने की रीति पर से त्रिपद-पद्धति के रूप में शिक्षा की एक सुन्दर पद्धति खड़ी कर ली है।

इस सेगुइन पद्धति से छोटे बालकों को बहुत-सी बातें सिखाई जा सकती हैं। मोण्टीसोरी-पद्धति में अक्षर भी इसी रीति से सिखाने की व्यवस्था है। अक्षरज्ञान-योजना में अक्षर और संयुक्त अक्षर सिखाने की रीति इन तीन क़दमों पर ही आधारित है।

स्वयंशिक्षा में अथवा शिक्षा में किसी भी प्रकार का बौद्धिक ज्ञान होने से पहले मन के अन्दर जो क्रिया चलती है, उस क्रिया का पृथक्करण ही त्रिपद-पद्धति है।

शिक्षक अपनी सहज प्रेरणा से इस त्रिपद-पद्धति का उपयोग जहाँ भी चाहें वहाँ कर सकते हैं।

:8:
प्रत्यक्ष-पद्धति

अंग्रेजी में इस पद्धति को 'डाइरेक्ट मेथड' कहा जाता है। बहुतेरे लोग इसको 'डू एण्ड से मेथड' भी कहते हैं। प्रत्यक्ष-पद्धति का मतलब है, वह पद्धति, जिसमें किसी भी क्रिया को करते समय उसके साथ क्रियावाचक शब्द अथवा वाक्य देकर अथवा पदार्थ या गुण दिखाकर या भाव व्यक्त करके उस पदार्थ, गुण अथवा भाव के शब्द-बोध के साथ उसका अर्थ-बोध भी कराया जाता है।

आम तौर पर प्रत्यक्ष-पद्धति का उपयोग विदेशी भाषा को सरलता से सिखाने के लिए किया जाता है। विदेशी भाषा सिखाने के लिए भाषान्तर-पद्धति के बदले यह पद्धति अधिक उपयोगी मानी गई है, क्योंकि

भाषान्तर-पद्धति में विदेशी भाषा का परिचय स्वभाषा के परिचय की तरह नहीं कराया जाता, बल्कि स्वभाषा की सहायता से कराया जाता है। इसमें यह माना जाता है कि इसके कारण सीखने वाले को दुगुना काम करना पड़ता है। मतलब यह कि इसमें पहले अपनी भाषा में विचार करने के बाद उसको विदेशी भाषा में, विदेशी भाषा के शब्दों, वाक्यों और व्याकरण की रचना के ज्ञान के सहारे व्यक्त करना पड़ता है। इस कठिन क्रिया के बदले भाषा-शास्त्रियों ने विदेशी भाषा को सीधे- सीधे ही सिखाने के लिए इसकी रचना की है। फ्रान्स के भाषा-शास्त्री श्री गुइन इस पद्धति के पहले विचारक और योजक माने जाते हैं। इसमें विद्यार्थी के सामने विदेशी भाषा सीधे-सीधे ही बोली जाती है। स्वभाषा में उसका भाषान्तर नहीं किया जाता। किन्तु, विदेशी भाषा की क्रियाएँ, गुण, अव्यय, नाम आदि को प्रत्यक्ष करके दिखाया जाता है, अथवा प्रत्यक्ष रीति से उसका बोध करवाने की व्यवस्था करके विदेशी भाषा सिखाई जाती है। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि सीखने वाले को विदेशी भाषा के जीते-जागते वातावरण में रखने के प्रयत्न का नाम है, प्रत्यक्ष-पद्धति। विदेशी भाषा का प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाली पद्धति ही प्रत्यक्ष-पद्धति है।

माना यह जाता है कि इस पद्धति से विद्यार्थी थोड़े ही समय में विदेशी भाषा अच्छी तरह सीख लेते हैं। वे सीधे-सीधे ही विदेशी भाषा में सोचने लगते हैं। उनको विदशी भाषा एक विशेष मातृ-भाषा के समान ही लगती है। वे सहज रूप से विदेशी भाषा में बोलना सीख जाते हैं।

इस मान्यता में बहुत सचाई है। किन्तु प्रत्यक्ष-पद्धति के लिए अत्यन्त कुशल, विदेशी भाषा के प्रेमी और उसके अच्छे जानकार शिक्षक के साथ ही प्रत्यक्ष पाठ सिखाने के लिए अच्छे वातावरण की और विशेष रूप से लिखी गई पुस्तकों की आवश्यकता होती है, और तभी प्रत्यक्ष-पद्धति सच्चे ढंग से सफल हो सकती है। ऐसा न होने पर टूटे-फूटे ढंग से विदेशी भाषा बोलना आ जाता है, पर उसके कारण लिखने और बोलने में व्याकरण की बहुत भूलें होती हैं। मतलब यह कि जिसको बटलरों की भाषा कहा जाता है, वैसी भाषा बोलना आ जाता है।

प्रत्यक्ष-पद्धति के बारे में काफी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। जो लोग विदेशी भाषा सिखाने के प्रयोग करते हैं, उनके लिए वे उपयोगी हैं। प्रत्यक्ष-पद्धति के प्रयोग में असफल हुए लोगों की ओर से जो बातें कही जाती हैं, उनको सोच-समझकर ही मानना मुनासिब होगा। कहा जाता है कि प्रत्यक्ष-पद्धति में बहुत परिवर्तन होने चाहिए। अकसर इन परिवर्तनों के नाम पर शिक्षक पीछे हटते-हटते बुरे ढंग की भाषान्तर-पद्धति को अथवा पाठमाला-पद्धति को अपना लेते हैं। जहां ऐसे परिणाम सामने आएँ वहाँ प्रकट रूप में पाठशाला-पद्धति को अपना लेने से प्रामाणिकता का पता चलेगा, और उससे विद्यार्थियों का भला होगा।

प्राथमिक विद्यालय में इस पद्धति का उपयोग वहीं विचारणीय होता है, जहाँ पाँचवीं कक्षा से अंग्रेजी की पढ़ाई जुड़ती है। बहुतेरे लोग ठेठ बचपन से ही मातृभाषा के साथ एकाध विदेशी भाषा सिखाने की हिंमायत करते हैं और वे सिखाते भी हैं। हमारे देश को छोड़कर इस तरह का मोह दूसरे देशों में शायद ही कहीं पाया जाता है। पहले स्वभाषा का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने के बाद ही विदेशी भाषा की पढ़ाई शुरू की जा सकती है। जब बालक दो या तीन भाषाओं को एक साथ बोलते हैं, तो हमको वह अच्छा लगता है। किन्तु एक साथ दो-तीन भाषाएँ सिखाने से वे किसी एक भी भाषा को भली-भाँति बोल नहीं पाते। असल में जब विचार करने की उनकी अपनी कोई एक निश्चित भाषा नहीं होती, तो वे भाषा की गहराई में नहीं जा पाते। हमारी इस दुनिया में कई लोग इस प्रकार से कई-कई भाषाएँ बोलते हैं, किन्तु वे वास्तव में भाषा के अभ्यासी नहीं बनते और न वे यह सोच ही पाते हैं कि भाषा के क्षेत्र में वे अपना कोई योगदान दें। इसलिए एक बार में विद्यार्थी को एक ही भाषा सिखानी चाहिए, और वह उसकी अपनी भाषा ही होनी चाहिए।

यह दलील कि विदेशों में या दूसरे प्रान्तों में रहने वाले बालक एक साथ दो भाषाएं जान सकते हैं, विदेशी भाषा को प्रत्यक्ष पद्धति द्वारा सिखाने के लिए काम की नहीं है। बालक घर में घर की और बाहर अपने मित्रों की रोज़-रोज़ बोली जाने वाली भाषा जो सीख लेते हैं, सो

प्रत्यक्ष-पद्धति से नहीं, बल्कि परिचय-पद्धति से सीखते हैं। इस प्रकार प्रासंगिक परिचय के कारण प्राप्त होने वाला ज्ञान अधिकतर प्रासंगिक ही होता है, जब कि हमेशा बोली जाने वाली भाषा का ज्ञान स्थिर और स्थायी रहता है, और बालक उस भाषा में विचार कर सकता है और सृजन भी कर सकता है।

प्रत्यक्ष-पद्धति केवल विदेशी भाषा सिखाने तक ही सीमित नहीं है। प्रत्यक्ष-पद्धति का अर्थ यह है कि विद्यार्थी को सीधे-सीधे ही कोई वस्तु दिखाकर उसको उसका ज्ञान करा दिया जाए। पाठशाला में भरती होने के समय तक बालक सहज भाव से प्रत्यक्ष-पद्धति द्वारा ही सब कुछ सीखता रहता है। किन्तु पाठशाला में जाने के साथ ही वह अप्रत्यक्ष पद्धति से, अर्थात् दर्शन-प्रमाण से नहीं, बल्कि शब्द-प्रमाण से सीखना शुरू करता है। सच्चा ज्ञान शब्द-ज्ञान से नहीं होता। पर प्रत्यक्ष अनुभव से सच्चा ज्ञान होता है। इसलिए पाठशाला में विद्यार्थी को जो कुछ भी सिखाना हो, उसको विद्यार्थी के प्रत्यक्ष अनुभव में लाकर ही सिखाना चाहिए।

इसके लिए शिक्षक अपनी पाठशाला को बहुत विशाल रूप में अपने सामने रखे। पाठशाला को पाठशाला के भवन तक ही सीमित न रखकर आसपास की समूची सृष्टि को शाला मानकर, और उसमें मनुष्य के साथ प्रकृति को भी जोड़कर, विद्यार्थी को उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कराना चाहिए। पाठशाला में तरह-तरह की चीज़ों को इकट्ठा करने और उनको दिखाते रहने से अथवा चित्र दिखाने से विद्यार्थी को ज्ञान तो दिया जा सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष-पद्धति की दृष्टि से ऐसा ज्ञान हमेशा अपूर्ण ही माना जाएगा। जहाँ-जहाँ भी सम्भव हो, वहाँ-वहाँ शिक्षक को प्रत्यक्ष-पद्धति का ही उपयोग करना चाहिए।

:9:
दर्शन-पद्धति

अंग्रेजी भाषा में इसको 'बीकन-पद्धति' कहा जाता है। कहीं-कहीं इसका उपयोग भाषा-शिक्षा में किया जाता है। कहीं-कहीं भाषा-शिक्षा का काम वर्णमाला के मूल अक्षरों से शुरू करने के बदले शब्दों से अथवा वाक्यों से

शुरू किया जाता है। इस रीति से भाषा सिखाने के लिए पुस्तकों की रचना की गई है। इस पद्धति में यह माना जाता है कि बालकों को अक्षर की मदद से भाषा सीखने में कठिनाई होती है क्योंकि अक्षर केवल नीरस ध्वनि-मात्र होते हैं। उनसे बनने वाले शब्दों में वाक्य का पूरा अर्थ नहीं होता। इसलिए भाषा-शिक्षा का एक अंग अक्षर अथवा शब्द नहीं, बल्कि वाक्य होना चाहिए।

इस तात्त्विक विचार में से 'बीकन-पद्धति' का जन्म हुआ लगता है। पहले बालक के सामने तख्ती पर पूरा वाक्य लिखिए और वाक्य में दिए गए शब्द अथवा अक्षर सिखाने से पहले, जो लिखा है, उसको दिखाकर आंखों की मदद से उसको पढ़वाइए। इस प्रकार वाक्यों को पढ़ने में रुचि जगाने के लिए बीकन-पद्धति कहानी का उपयोग करती है। निश्चित वाक्यों के बाद कुछ वाक्य बोलकर शिक्षक बालकों को अनुलेखन के ढंग पर एक कहानी सुना देता है । इसके बाद वह कहानी का एक-एक वाक्य विद्यार्थियों से इतनी बार बुलवाता है कि वाक्यों में संकलित पूरी कहानी उनको जबानी याद हो जाती है। बाद में शिक्षक इन वाक्यों वाली कहानी को श्यामपट्ट पर लिख देता है, और वह विद्यार्थियों से कहता है कि वे उसको वाक्यवार पढ़ जाएँ। क्योंकि जबानी याद हुए वाक्य और श्यामपट्ट पर लिखे हुए वाक्य एक ही होते हैं, इसलिए लिखे हुए को जिस तरह जबानी याद किया है, उस तरह उसको आँख की मदद से याद करवाते हैं। इस प्रकार, जिस तरह बालकों की आँखें पदार्थों को याद रख सकती हैं, उसी तरह आँखों की मदद से कई-कई वाक्यों को रट कर याद रखना होता है। रटने के नियम के अनुसार बार-बार देखने से आँख को वाक्य याद रह जाते हैं। इसके बाद शिक्षक बालकों से पूरे-के-पूरे वाक्य पहचानने को कहते हैं। बाद में टेढ़े-तिरछे वाक्य लिखकर उनको पहचानना सिखाते हैं। इस तरह, जैसे विद्यार्थी किसी समूह में से अपने जाने-पहचाने आदमी को खोज लेता है, वैसे ही वह परिचित वाक्य को भी खोज निकालता है। जब आँखों को वाक्य याद रह जाते हैं, तो बाद में वाक्यों के शब्द पर्चियों पर लिखकर उसको खेल के रूप में याद करवाते है। इसके बाद अलग-अलग ढंग से शब्दों पर से अक्षर सिखाए जाते हैं। इस प्रकार इस पद्धति में वाक्य से आरम्भ करके

अक्षर तक पहुँचना होता है। रचना ऐसी की जाती है कि कहानी के कुछ निश्चित पाठों में सब अक्षरों का समावेश हो जाए। वाक्यों और अक्षरों की देखने की क़वायद के बाद जब अक्षरों का ज्ञान पक्का हो जाता है, तो फिर अक्षरों को जोड़कर शब्दों और वाक्यों की रचना करना सिखाया जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, द्राविड़ी प्राणायाम की-सी इस पद्धति का हेतु बालकों को रुचिकर ढंग से पढ़ना सिखाना माना गया है। चूँकि बालकों को कहानी सुनने में मजा आता है, और चूँकि बालक पूरे वाक्य बोलकर भाषा द्वारा अपने भाव व्यक्त करते हैं, अक्षर या शब्द बोलकर नहीं, इसलिए यह माना जाता है कि पढ़ने में रुचि उत्पन्न करने वाली यह रीति शास्त्रीय रीति है। जो भाषा उच्चार के अनुसार नहीं बोली जाती, वैसी भाषा को सीखने वाले बालकों के लिए यह पद्धति शायद आसान रहती होगी। क्योंकि अंग्रेजी के समान जो भाषा उच्चारानुसारी नहीं है, उस भाषा में वर्तनी सीखने और उसके बाद शब्द सीखकर वाक्य तक पहुंचने में बड़ी कठिनाई होती है। इसके विपरीत, यदि बालकों को सीधे-सीधे वाक्य ही पढ़ने को मिलें, तो पढ़ने में उनकी रुचि बढ़े, इस कल्पना में कुछ अर्थ तो अवश्य ही है।

परन्तु चूँकि भारत की भाषाएँ उच्चारानुसारी हैं, इसलिए यहाँ इस योजना के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जो ईसाई सज्जन भारत के बालकों को पढ़ाते हैं, यह पद्धति उनके द्वारा भारत में लाई गई है। वे अपने देश की अच्छी पद्धति से भारत के बालकों को सिखाने के प्रयत्न में यहाँ एक ऐसी पद्धति को चलाते हैं, जो यहां के बालकों के लिए और यहां की भाषा के लिए अनुकूल नहीं है।

हमारे शिक्षक इस पद्धति का भी उपयोग कर सकते हैं। हमारी अक्षर ज्ञान-योजना में जुड़वाँ अक्षरों वाले शब्द सिखाने में इस योजना का उपयोग किया गया है। इसी तरह जिन बालकों का रुझान अक्षर की मदद से भाषा सीखने में न हो, अथवा जो बालक अक्षरों की मदद से भाषा सीखने की स्थिति से आगे निकल गए हों, और चटपट पढ़ना चाहते हों, अक्षर सीखने के लिए धीरज न रख पाते हों, सीखने के उत्साह में जो बार-बार

नीरस अक्षर देख कर पीछे हट जाते हों, उनके लिए शब्दों अथवा वाक्यों की मदद से भाषा सिखाने की इस योजना का उपयोग किया जा सकता है।

कहा गया है कि कुछ प्राथमिक विद्यालयों में इस योजना का उपयोग सफलता-पूर्वक किया गया है। इसमें इस योजना की शास्त्रीयता की अपेक्षा कुशल शिक्षक के आग्रह ने और बड़ी उमर के विद्यार्थियों की उपस्थिति ने अधिक काम किया होता है। जब बालकों पर सीखने की जिम्मेदारी आ पड़ती है, तो वे किसी भी अच्छी या बुरी पद्धति से सीख लेते हैं। इस अनुभव-सिद्ध बात को ध्यान में रख कर हम मानें कि बीकन-पद्धति की सफलता का माप इस बात में नहीं है कि बालक हमेशा उस पद्धति से सीखते हैं, बल्कि इस बात में है कि पाठशाला के और शिक्षक के बन्धन से मुक्त विद्यार्थी स्वयं इस पद्धति की ओर आकर्षित होते है। तटस्थ शिक्षकों को चाहिए कि वे बीकन-पद्धति के गुण-दोषों पर स्वयं विचार करके जहां उचित हो, वहाँ बालकों के हित में इस पद्धति का उपयोग करें।

:10:
योजना-पद्धति

इस योजना-पद्धति का जन्म-स्थान अमेरिका है। व्यवहार-कुशल अमेरिका ने अनुभव किया कि विद्यालयों की किताबी पढ़ाई तो किताबी ही बनी रहती है। उसके साथ बाहर के जीवन-व्यवहार का कोई तालमेल बैठता नहीं है। ऐसी स्थिति में अमेरिका के लिए एक से अधिक शिक्षा-योजनाओं की खोज करना आवश्यक हो गया।

इस योजना को अपने देश में लाने का श्रेय ईसाई शिक्षा-संस्थाओं को है। पंजाब के मोगा नगर में शिक्षा की यह पद्धति सफल सिद्ध हुई है। कुछ ईसाई शिक्षा-शास्त्री पहले अमेरिका जाकर वहाँ इस पद्धति को सीख आए। पढ़ाई केवल पुस्तकीय पढ़ाई न रह जाए, इस दृष्टि से यह पद्धति सचमुच ही स्वागत-योग्य प्रतीत हुई है। यह पद्धति बड़े तात्त्विक सिद्धान्तों के आधार पर अथवा वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर नही रची गई है। इसकी रचना व्यावहारिक दृष्टि से की गई है। इस कारण यह सचमुच ही

व्यावहारिक मालूम भी हुई है। अपने सच्चे स्वरूप में यह पद्धति पाठ्यक्रम, ज्ञान की जानकारी और परीक्षा की अवगणना स्वयं ही करती है। फिर भी जहाँ-जहाँ पाठ्यक्रमों की सीमा में रहकर काम करना होता है, वहाँ पाठ्यक्रम के साथ इस योजना का समन्वय किया जाता है, और यह समन्वय हो भी सकता है। यहाँ इस योजना के दो-तीन उदाहरण देने से यह अच्छी तरह समझ में आ सकेगी।

यह योजना पहले किसी एक प्रश्न से शुरू होती है। एक प्रश्न को हल करते समय कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर खोज लेने से सारी योजना अमल में आ जाती है, और एक काम सम्पूर्ण रूप से पूरा हो जाता है।

बालकों को जिस पुस्तक की मदद से पढ़ाया जाता है, इस योजना को अमल में लाने से वह सब एक अलग ही ढंग से सीखने को मिलता है। विद्यार्थी सक्रिय रूप से और स्वेच्छा से ज्ञान प्राप्त करते हैं, और चूँकि वह ज्ञान अनुभव-सिद्ध होता है, इसलिए वह स्थायी भी रहता है।

शिक्षक विद्यार्थियों के सामने कोई प्रश्न अथवा प्रस्ताव रखता है। जैसे, 'क्या हम एक पतंग बनाएँगे ?' विद्यार्थी ऐसे प्रस्ताव का स्वागत सहज भाव से करते हैं। फिर शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर पतंग बनाने के काम की योजना तैयार करते हैं। वे उसको लिख लेते हैं। उनका यह आलेख आपस के सवाल-जवाब में से तैयार होता है। योजना का ब्यौरा सोचा जाता है, उसकी नोंध ली जाती है, और उसको पूरा कैसे किया जाए, उसकी युक्ति सोची जाती है। इससे विद्यार्थियों को पता चलता है कि पतंग बनाने के लिए बाँस, काग़ज, गोंद, धागा और लेई आदि की आवश्यकता होती है। चूँकि पतंग बनाने का काम विद्यार्थियों को ही करना होता है, उन्हीं को सारी चीज़ों की सूची तैयार करनी होती है, ये चीजें कहां मिलेंगी, इसका पता लगाना होता है, उनको खरीदना सीख कर खरीदी गई चीजों का हिसाब रखना होता है, और सारा सामान इकट्ठा कर लेने के बाद इस बात का विचार करना होता है कि आपस-आपस में काम का बँटवारा किस तरह किया जाए कि जिससे काम पूरा हो सके। इसमें सचमुच ही विद्यार्थियों को बाज़ार में जाकर

गोंद, बाँस, काग़ज़ आदि लाना और उनका मोल-भाव करना सीखना पड़ता है। इसी के साथ उनको गांव में जाकर दुकानदारों के साथ सारा व्यवहार करना भी सीखना होता है। इस प्रकार सारी सामग्री तैयार हो जाने के बाद जब विद्यार्थी काम करने बैठते हैं, तो उनको गोंद भिगोना, बाँस की चीपटें बनाना, काग़ज़ काटना और उसको चिपकाना भी सीखना पड़ता है। हाथ की इस कारीगरी को सीखने के अलावा उनको इस बात का हिसाब भी लगाना होता है कि कुल कितने पतंग बनाने हैं, उनके लिए कितने काग़ज़ की ज़रूरत होगी, और कितनी चीपटें लगेंगी आदि-आदि। इन पतंगों के बन जाने के बाद अन्त में किसने, किस तरह, कुल कितना काम किया, इसकी नोंध भी लिखनी होती है। इस तरह एक पतंग बनाने में लेखन, वाचन, गणित, हाथ की कारीगरी, भूगोल आदि सिखाने का काम सहज ही खड़ा हो जाता है। शिक्षक विद्यार्थियों के सामने एक के बाद एक प्रश्न रखता है। जैसे, 'चिपकाने के लिए हमको किस चीज़ की ज़रूरत होगी ?' 'हम कितने हैं, और हमको कितने पतंगों की ज़रूरत है ?' 'आज हमने यह सब किस तरह बनाया ? क्या इसके बारे में हम अपनी कोई टिप्पणी नहीं लिखेंगे ?' आदि-आदि।

एक दूसरा उदाहरण लें। जैसे, 'विद्यार्थी एक एकड़ जमीन में आलू बोने की योजना अपने हाथ में लेते हैं। इस योजना के मूल में कई सवाल छिपे हैं। आलू के लिए किस प्रकार की ज़मीन पसन्द करनी है, उस ज़मीन को किस तरह हलना-बखरना है, उसके लिए कैसी खाद की व्यवस्था करनी है, आदि प्रश्न खेती-बाड़ी के विषय से सम्बन्धित हैं। एक एकड़ में कितने आलू पैदा हो सकते हैं, उनको कितने फासले से बोना चाहिए, पैदा हुए आलुओं को कहाँ, कैसे बेचना चाहिए, ये प्रश्न गणित के साथ जुड़े हैं। आलू भारत में सबसे पहले कहाँ से आए, कौन लाया, आदि प्रश्न इतिहास के प्रश्न हैं। अलग-अलग देशों में किन-किन किस्मों के आलू पैदा होते हैं, कौन-सा देश सबसे अधिक आलू पैदा करता है, आदि प्रश्न भूगोल से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार की योजना का लिखित विवरण तैयार करने का प्रश्न निबन्ध-लेखन से सम्बन्धित है। इसमें शुरू से आखिर तक शारीरिक

शिक्षण तो मिलता ही रहता है। इस तरह एक योजना के द्वारा अनेकानेक विषयों का ज्ञान देना हो, तो वह दिया जा सकता है।'

मोगा के विद्यालय में इस योजना के द्वारा शिक्षा किस प्रकार दी जाती है, इसका पता हमको नीचे लिखे विवरण से चलता है—

'वर्ष के आरम्भ में शिक्षक के द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में इस बात की चर्चा शुरू हुई कि गरमी की छुट्टियों में अपने-अपने गाँवों में गाँव वालों का स्वास्थ्य कैसा रहा?' इस चर्चा के कारण विद्यार्थियों में इस बात को जानने की प्रबल इच्छा जागी कि बीमारियों की रोकथाम कैसे की जाए, अथवा बीमारों की सार-सँभाल किस तरह की जाए? शिक्षक ने सुझाया कि मोगा नगर के सरकारी अस्पताल में इसके बारे में पूछताछ की जाए। इस काम के लिए समितियाँ गठित की गईं। समितियों ने अस्पताल में जाकर वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन किया, और अपने-अपने प्रतिवेदन तैयार करके भेजे। उनके प्रतिवेदनों में ज़मीन के और मकानों के नक़शे थे। खर्च का अन्दाज-पत्रक था। काम में आने वाली दवाइयों की सूची थी। नौकरों के कर्त्तव्यों की जानकारी थी, और बीमारों की बीमारियों का ब्योरा था। अस्पताल किस तरह चलाना और कार्यालय की व्यवस्था कैसी रखनी चाहिए, इसकी जानकारी भी थी। उन्होंने रुचि-पूर्वक इस बात का पता लगाया कि सामान्य बीमारियाँ क्या-क्या थीं, और कितने प्रतिशत रोगी उन बीमारियों से पीड़ित थे। इनके बाद उन्होंने अपनी कक्षा के अन्दर एक छोटा-सा अस्पताल खोलने का निश्चय किया, और वहाँ रहने वाले विद्यार्थियों को और दूसरे लोगों को सहायता पहुँचाई। कुछ फर्नीचर विद्यार्थियों ने खुद बनाया और कुछ उधार मांगा। दवाइयों के लिए पैसे कुछ तो माँग करके और कुछ कमा कर इकट्ठा किए। इस बात का पता चलाया कि दवाइयाँ कहाँ मिलती हैं। अपने अस्पताल को चलाने के खर्च का अन्दाज-पत्रक तैयार किया। दवाइयों को तौलना सीखा। बोतलों पर लेबल लगाना, नक़शे बनाना और कार्यालय चलाना सीखा। इस प्रकार अस्पताल की एक योजना के सहारे उन्होंने इतनी सारी बातें सीख लीं। और भी बहुत-सी बातें सीखी।

इसको योजना कहा जाता है। यह चीज़ नई भी है, और बहुत पुरानी भी है। छोटे बच्चे इकट्ठा होकर नदी-किनारे, समुद्र-किनारे अथवा अपनी गली में घर का खेल खेलते हैं, घरों के बनाने का खेल-खेलते हैं, और नदी-किनारे अपने खेत तैयार करते हैं। इन सब में तत्त्व रूप में योजना रहती ही है। आज उसका स्वरूप पूरी तरह स्वयं स्फुरित न रहकर शिक्षक-प्रेरित, साधन-सम्पन्न और ज्ञान-दान के लक्ष्य वाला बन गया है।

जब तक इस पद्धति से विद्यार्थी उत्साह के साथ काम करके सीखता है, और काम के साथ ज्ञान को जोड़ता है, तब तक ही यह पद्धति अच्छी है।

इसकी सफलता के लिए अनेकानेक पद्धतियों को जानने वाला, बालकों की आवश्यकताओं को समझने वाला और इस योजना-पद्धति की अच्छी जानकारी रखने वाला शिक्षक चाहिए। यह पद्धति ऐसी नहीं है कि हर कोई शिक्षक इसको चला सके।

:11:

किण्डर गार्टन-पद्धति

इस पद्धति की स्थापना फ्रॉबेल ने की थी। 'किण्डर' यानी बालक और 'गार्टन' यानी बाग़। इस तरह इस पद्धति का अर्थ होता है, बालकों का बाग़। 'किण्डर गार्टन' जर्मन शब्द है।

पेस्टॉलॉजी के शिष्य फ्रॉबेल द्वारा चलाई गई इस 'बालवाड़ी' पद्धति ने यूरोप के और दुनिया के बालकों को बड़ी राहत पहुँचाई है। बालकों को मार-पीट से और शिक्षकों के जंगलीपन आदि से बचा लेने का श्रेय रूसो के बाद पेस्टॉलॉजी और फ्रॉबेल को ही प्राप्त हुआ है।

आज भारत में चल रही किण्डर गार्टन-पद्धति को देखकर फ्रॉबेल दुःख के साथ यह कह सकते हैं : 'यह मेरे द्वारा चलाई गई पद्धति नहीं है।' आज अपने देश में किण्डर गार्टन-पद्धति का ऐसा विकृत रूप खड़ा हो गया है। फ्रॉबेल तो यूरोप की किण्डर गार्टन शालाओं में जाकर भी यही कहेंगे : 'इनमें मेरी मूल कल्पना और सिद्धान्त नहीं हैं।'

फ्रॉबेल ने किण्डर गार्टन-पद्धति की रचना एक फिलॉसफी के अर्थात् तात्त्विक चिन्तन के आधार पर की है। वे अपनी पद्धति के मुख्य तीन सिद्धान्त मानते हैं। (1) एकता (2) आन्तरिक विकास और (3) पारस्परिक सम्बन्ध। उन्होंने इन तीन सिद्धान्तों को प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्धों के सार-रूप में खोज निकाला है। फ्रॉबेल की पद्धति की रचना आज के विज्ञान पर आधारित मनोविज्ञान की दृष्टि से नहीं हुई है। वह तात्त्विक और धार्मिक समझदारी पर अथवा दर्शन पर आधारित है।

खिलौनों-से लगते किण्डर गार्टन के साधनों के मूल में फ्रॉबेल की कल्पना वाले उपर्युक्त सिद्धान्त हैं। प्रत्यक्ष व्यवहार में आज शिक्षक भी इन साधनों और सिद्धान्तों के बीच के सम्बन्ध को न तो समझ पाते हैं, और न इनको अमली रूप देने की कोई सम्भावना देखते अथवा जानते हैं।

यूरोप और अमेरिका के किण्डर-गार्टनिस्टों ने शिक्षा में स्वतंत्रता और स्वयं-स्फूर्ति की दृष्टि से इस पद्धति में बहुतेरे सुधार किए हैं। कई किण्डर गार्टन-विद्यालय मोण्टीसोरी के साधनों का उपयोग करते हैं, जबकि कुछ विद्यालयों में किण्डर गार्टन के साधनों का उपयोग मोण्टीसोरी सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है।

किण्डर गार्टन-पद्धति में शिक्षक केन्द्र में रहता है। शिक्षक का काम ज्ञान पिलाने, रुचि उत्पन्न करने और प्रेम पाने का होता है। शिक्षक के अभाव में बालक अपना काम अपने आप एक मिनट के लिए भी चला नहीं पाते।

किण्डर गार्टन-पद्धति मानती है कि तीन से छह साल की उमर तक बालक परावलम्बी होता है। इसलिए छोटे बालकों को उनके सब कामों में प्रेम-पूर्वक मदद देनी चाहिए।

किण्डर गार्टन-पद्धति में सामूहिक शिक्षा की व्यवस्था है। उसमें बालकों के व्यक्तिगत विकास की बहुत कम गुंजाइश है।

सामूहिक शिक्षा के कारण कक्षा की व्यवस्था का स्वरूप कुछ नीचे लिखे अनुसार होता है। एक निश्चित स्थान पर बालक एक कतार में बैठते हैं। उनको अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की मनाही होती है। अपनी

मनपसन्द वृत्ति का अनुसरण करने की अपेक्षा इस पद्धति में शिक्षक के प्रेमपूरित आदेश का अनुसरण करना होता है।

किण्डर गार्टन में बालकों की गतिविधियाँ शिक्षक-प्रेरित होती हैं। उसमें बालकों के लिए उपयोगी विषय रहते हैं। बालकों के लिए प्रकृति, प्राणी आदि के परिचय की व्यवस्था होती है। किन्तु इन सबका परिचय कराने की रीति पर-प्रेरित है।

किण्डर गार्टन में समय-चक्र की, कुछ अंशों में पाठ्यक्रम की ओर रुचि जगाकर सिखाने की व्यवस्था है। मनोविज्ञान की दृष्टि से किण्डर गार्टन-पद्धति मानती है कि अपनी छोटी उमर के कारण बालक लम्बे समय तक एकाग्र नहीं रह पाते। इसलिए थोड़े-थोड़े काम के बाद उनके वास्ते आराम की व्यवस्था की गई है। उत्तेजित रस के कारण किण्डर गार्टन में बालक आकुल-व्याकुल बनता है, और स्थिरता के बदले उसमें चंचलता और शान्ति के बदले उत्तेजना बढ़ती है।

किण्डर गार्टन-पद्धति में सामाजिक जीवन के विकास के लिए अच्छी गुंजाइश है, परन्तु उसमें इस बात की कोई कल्पना नहीं है कि उपेक्षित व्यक्तियों का समूह कितना पंगु बन जाता है।

किण्डर गार्टन में बालकों की विशिष्ट शक्तियों की अवगणना होती है, इसलिए छोटी उमर में बालकों को जिन-जिन विषयों का ज्ञान कराया जा सकता है, उन सब विषयों का समावेश इस पद्धति में किया नहीं गया है।

जिन दिनों यूरोप में किण्डर गार्टन-पद्धति का आरम्भ हुआ होगा, उन दिनों उसके बारे में ऊपर दिए गए टीकात्मक विचारों की कोई कल्पना भी किसी ने की नहीं होगी। ये टीकाएँ न तो फ्रॉबेल के व्यक्तित्व को लेकर हो सकती हैं, और न स्वयं फ्रॉबेल ने बालकों पर जो महान उपकार किए हैं, उनके बारे में ही हो सकती हैं। किण्डर गार्टन-पद्धति उसके बाद में विकसित पद्धतियों के लिए सीढ़ी-स्वरूप है। आज हमको उसमें जो अधिक दोष दिखाई देते हैं, शायद वे इसलिए हैं कि बाल-शिक्षा के क्षेत्र में दुनिया काफ़ी आगे बढ़ी है।

किण्डर गार्टन शब्द पर किसी को कोई आपत्ति हो नहीं सकती। जिस स्थान में बालकों का विकास निरन्तर होता रहता है, वह स्थान 'बाल-वाटिका' ही है। आज यूरोप में जो अच्छी किण्डर गार्टन शालाएँ चल रही हैं, वे हमारे आदर और सम्मान की अधिकारिणी हैं ही किन्तु हमारे देश की किण्डर गार्टन शालाओं का प्रहसनात्मक स्वरूप जितना हास्यास्पद है, उतना ही दयाजनक भी है। पुरानी चटशालाएँ और आज की किण्डर गार्टन शालाएँ दोनों, मिलकर आज बालकों का कितना अहित कर रही हैं, इसका पता लगाने के लिए कोई जाँच-समिति नियुक्त की जानी चाहिए।

:12:

स्वयंशिक्षण-पद्धति

अंग्रेजी में जिसको मोण्टीसोरी-पद्धति कहा जाता है, उसको हम इस नाम से पहचान सकते हैं, अलग-अलग शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा की अच्छी-अच्छी पद्धतियों की खोज की है। इन पद्धतियों में इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि शिक्षक कोई भी विषय विद्यार्थियों को कितनी अच्छी तरह से सिखा सकता है। मतलब यह कि इनमें शिक्षक सिखाने वाला होता है और विद्यार्थी सीखने वाला होता है।

स्वयंशिक्षण-पद्धति वह पद्धति है, जिसमें विद्यार्थी स्वयं ही ज्ञान प्राप्त करता रहता है। इस पद्धति में शिक्षक सीधे-सीधे सिखाता नहीं है, किन्तु वह ऐसे प्रबोधक वातावरण की रचना करता है, जिसमें बालक खुद ही अपनी कोशिश और अपनी बुद्धि से अपने लिए वह शिक्षा पाता रहता है, जो उसके लिए ज़रूरी होती है।

इस वातावरण में आने वाले बालक को वातावरण स्वयं ही आमंत्रित करता है, अथवा प्रेरित करता है कि वह खुद ही अपनी पसन्द का काम चुने, और अपनी पसन्दगी के अनुसार स्वयं ज्ञान प्राप्त करे, और अपनी शक्तियों का विकास भी करे। यह वातावरण बहुत सावधानी के साथ तैयार किया जाता है। बालक सहज भाव से स्वतंत्र परिस्थिति में, समय-चक्र की और पाठ्यक्रम की मर्यादा से मुक्त रह कर, सजा के डर से और इनाम के

लालच से मुक्त होकर, स्वयं किस तरह सीखता है, इसका अध्ययन करके यह वातावरण बनाया जाता है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में बालकों को स्वतंत्रता देने के बाद उन परिस्थितियों में बालकों की इन्द्रियों पर और उनके मन पर जो आघात-प्रत्याघात होते हैं, उनका अवलोकन करके उसके आधार पर बालक के विकास के लिए आवश्यक गतिविधियों वाले वातावरण का निर्माण किया जाता है।

यह पद्धति स्वयं-शिक्षण के साथ ही प्रबोधक सामग्री वाली पद्धति भी है। इसकी प्रबोधक सामग्री ज्ञान अथवा शक्ति का प्रबोधन स्वयं करती है। प्रबोधक सामग्री की रचना ऐसी होती है कि प्रबोधन के काम में होने वाली भूलों को बालक खुद ही अपने अनुभव और प्रयोग की मदद से सुधारता रहता है।

यह पद्धति बालक को एक नन्हें किन्तु सम्पूर्ण और विकासमान व्यक्ति के रूप में स्वीकार करती है। बालक की शक्ति में विश्वास और उसका सम्मान, ये दो इस पद्धति के रहस्य-सूचक मंत्र हैं। स्वतंत्रता और स्वयं स्फूर्ति इस पद्धति के लिए श्वासोच्छ्वास के समान होते हैं। यह पद्धति मानती है कि स्वतंत्र परिस्थिति में अपने अन्तर की स्फूर्ति के साथ बालक बुद्धि-पूर्वक जो कुछ भी करता है, वह उसके लिए शिक्षा-स्वरूप ही है।

स्वतंत्रता का अर्थ है, संयमन अथवा स्व-नियमन। स्वतंत्रता का मतलब अतंत्रता नहीं है। स्वयं स्फूर्ति का अर्थ है, सत्कार्य करने की आन्तरिक स्फूर्ति। बालक स्वयं सन्मार्ग पर चलने वाला है। शिक्षक का काम है कि वह बालक के मार्ग में आने वाले विघ्नों को अथवा असद् को दूर करे।

इस पद्धति में शिक्षक का काम है कि वह बालक को स्वतंत्रता के मार्ग पर चलता करे। वह ऐसा वातावरण खड़ा करे कि जिसमें बालक अपनी पराधीन स्थिति में से स्वाधीन अथवा स्वावलम्बी स्थिति में पहुँच सके, जिसमें अपने प्रेम रूपी प्रकाश से शिक्षक शिक्षा के सारे वातावरण को ऊष्मा-युक्त और उल्लासपूर्ण बना सके। इसमें शिक्षक तटस्थ रहता है, फिर भी वह प्रवाह के साथ आने वाले कूड़े-कचरे को दूर करता है। इसमें शिक्षक केवल द्रष्टा है, फिर

भी वह अनुकूल साधन-सामग्री का और वातावरण का सृष्टा है; उसकी भूमिका अवलोकन-कर्ता की होती है, फिर भी वह विज्ञान के सिद्धान्तों का स्थापक और उनको कार्यरूप में परिणत करने वाला होता है। इसमें शिक्षक का मुख्य सूत्र मौन रहता है, फिर भी वह जानता है कि उसको अपनी वाणी का उपयोग कब करना है। उसका आनन्द इस बात में है कि बगीचे के फूलों की तरह बालक अपने हो रहे विकास को देखकर हँसता रहे। उसकी कल्पना में न तो सज़ा है, न इनाम है, और न स्पर्द्धा ही है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक बालक एक भिन्न व्यक्ति है, और अपनी विभिन्न प्रकार की पूँजी के सहारे अपनी प्रगति करने वाला एक चेतन तत्त्व है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक बालक की सहायता उसका सुहृद् बनकर करता रहे।

इस पद्धति की स्थापना डॉक्टर मेरिया मोण्टीसोरी ने की है। आज के शिक्षाविदों में जो लोग अग्रगण्य हैं, उनमें एक वे भी हैं। वे इटली देश में रहने वाली बहन हैं। मूढ़ बालकों को शिक्षित करने के अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने औसत बुद्धि वाले बालकों के लिए नए प्रयोग करके इस पद्धति का निर्माण किया है।

यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि मोण्टीसोरी-पद्धति मूढ़ बालकों के लिए है। मूढ़ बालकों पर किए गए प्रयोगों में से निकली यह पद्धति मूढ़ बालकों के लिए शिक्षण-पद्धति के रूप में है, जबकि औसत बुद्धि वाले बालकों के लिए यह स्वयं-शिक्षण के रूप वाली है। मतलब यह कि जिन साधनों से शिक्षक मूढ़ बालकों को सिखा सकते हैं, औसत बुद्धि वाले बालक उन्हीं साधनों का प्रयोग शिक्षक की मदद के बिना खुद ही करके उनसे मिलने वाला ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरे, यह धारणा भी ग़लत है कि यह पद्धति केवल औसत बुद्धि वाले बालकों के लिए है, और इसमें प्रतिभाशाली बालकों के लिए कोई स्थान नहीं हैं। इसके विपरीत, यह पद्धति व्यक्तिगत और स्वतंत्र है। यह व्यक्ति को जितना आवश्यक होता है उतना पूरा अवसर देती है। यह धारणा भी ग़लत है कि यह पद्धति केवल इन्द्रियों की शिक्षा तक सीमित है। इस पद्धति से शिक्षा का आरम्भ इन्द्रिय-विकास से होता है। प्रतिष्ठापित मनोविज्ञान के वर्तमान नियमों के अनुसार मन की शक्तियों के

विकास में इन्द्रियों का विकास बुनियाद के रूप में है। इस पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें बालक की मानसिक शक्तियों के, अर्थात् बुद्धि-शक्ति, क्रिया-शक्ति और कल्पना-शक्ति के विकास की गुंजाइश है। इस पद्धति को स्वतंत्र विकास-पद्धति का नाम दिया जा सकता है। इस पद्धति के द्वारा भाषा, गणित, चित्रकला, संगीत आदि कला और ज्ञान के विषय सिखाए जाते हैं, किन्तु इसमें इन विषयों की शिक्षा गौण है, जबकि इनके लिए आवश्यक शक्ति की शिक्षा मुख्य है।

स्वयं शिक्षा की इस पद्धति में कक्षा की व्यवस्था और अनुशासन की मर्यादा भिन्न होती है। जो बालक दूसरे बालकों के लिए बाधक बने बिना अपना विकास करता रहता है, वह बालक व्यवस्थित और अनुशासित बालक माना जाता है। उसके लिए उसका अपना समयचक्र और उसकी अपनी जगह होती है। अपने लिए विषयों का चुनाव भी वह खुद ही कर लेता है। इसके परिणाम-स्वरूप हर एक बालक अपनी गति से ज्ञान प्राप्त करता है। उसके लिए इनाम और सज़ा का कोई अर्थ रहता ही नहीं। वह खुद ही अपना परीक्षक होता है। ज्ञान की भूख के कारण वह ज्ञान ग्रहण करता है। अतएव जब तक उसको ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक वह बार-बार खुद ही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है।

इस पद्धति का आविष्कार पश्चिम की जिन बहन ने किया है, वे शिक्षा के क्षेत्र की अग्रणी तत्त्वज्ञ रही हैं। फिर भी यह पद्धति सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित दीखती है, और इसी कारण यह सर्वव्यापक और सर्वमान्य बनी है।

:13:
उन्मेष-पद्धति

शिक्षा के काम में शिक्षा-पद्धति का अपना एक विशिष्ट स्थान होता है। शिक्षा-पद्धति प्रमाण शास्त्र की अपेक्षा मनोविज्ञान पर विशेष रूप से आधारित होती है। जो शिक्षा-पद्धति प्रमाण-शास्त्र द्वारा मान्य है, यदि वह मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं होती, तो वह विफल हो जाती है। आमतौर पर शिक्षा-पद्धति के

मामले में प्रमाण शास्त्र और मनोविज्ञान के बीच तालमेल होता है। फिर भी शिक्षा-पद्धति की दृष्टि से विचार करते समय मानस-शास्त्र का ध्यान अधिक सावधानी के साथ रखना होता है। जिस पद्धति द्वारा बालक स्वाभाविक रूप से सीखता नज़र आता है, वह पद्धति शिक्षा के काम में सफल होती है, और वही पद्धति शिक्षा की पद्धति बन सकती है। तर्क की दृष्टि से सोचने पर जो पद्धति सही मालूम होती है, यदि वह बाल-मन के अनुकूल नहीं होती तो विफल सिद्ध होती है।

अपने अनुभव से हम यह जानते हैं कि जब हम अचानक ही किसी नई वस्तु के या परिस्थिति के सम्पर्क में आते हैं, तो उसी क्षण हमारी इन्द्रियां और हमारी बुद्धि उस वस्तु को या परिस्थिति को उसके समग्र रूप में पूरे ब्योरे के साथ, देख नहीं पातीं, समझ नहीं पातीं, और उसका आकलन भी नहीं कर पातीं। इसका कारण यह कि स्वभाव से ही हमारी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जब किसी भी वस्तु से पहली बार परिचित होती हैं, तो वे उनके उन्हीं ब्योरों को पहचानती हैं, जो बहुत स्पष्ट, प्रकट, इन्द्रियों को सहज ही प्रभावित करने वाले, मन में सरलता से स्थान पाने वाले और बुद्धि में प्रवेश पाने वाले होते हैं। उनको वैसे ही ब्योरों का ज्ञान होता है। हम जैसे-जैसे वस्तु के विशेष परिचय में आते हैं, जैसे-जैसे हमारी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि पहले के परिचय वाली वस्तुओं को सुस्पष्ट रूप से ग्रहण करके उनको अपनाती जाती हैं, वैसे-वैसे उन्हीं वस्तुओं के मोटे ब्योरे के आसपास के ब्योरे हमारी आंखों के सामने तैरने लगते हैं, और वे हमारे पुराने ज्ञान के साथ जुड़ जाते हैं। इसी तरह जैसे-जैसे समय और परिचय बढ़ता है, तो वैसे-वैसे पुराने ज्ञान में नए ब्योरे जुड़ते जाते हैं, और अन्त में समूची वस्तु, समूची परिस्थिति, हमारे ज्ञान की मर्यादा में आ जाती है।

ज्ञात में से अज्ञात में जाना स्वाभाविक है। समग्र वस्तु का बोध होने के बाद भी उसके मुख्य-मुख्य ब्योरों का बोध पहले परिचय में, सूक्ष्म ब्योरों का बोध दूसरे परिचय में और उनसे अधिक सूक्ष्म ब्योरों का बोध आगे तीसरे परिचय में हो पाता है। फिर, पहले परिचय में मोटे तौर पर इन्द्रियों

की पकड़ में आने वाली वस्तुओं का ही बोध हो पाता है, बाद में दूसरे परिचय में मन की पकड़ में आने वाली वस्तुओं का बोध होता है, और फिर अगले परिचय में उससे भी गहरे प्रदेशों वाली वस्तुएँ ध्यान में आती हैं। ज्ञान प्राप्त करने के मामले में मनुष्य का स्वभाव स्थूल में से सूक्ष्म में जाने का होता है। बालक पहले स्थूल वस्तुओं को ग्रहण करता है और बाद में वह सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम वस्तुओं को पकड़ पाता है।

यदि आप बालक को किसी चिड़ियाघर में ले जाएँगे, तो पहली बार में बालक को सिंह, बाघ, पेड़-पत्ते आदि के स्थूल स्वरूप को देखने में ही आनन्द का अनुभव होगा। उसको उनका ज्ञान होगा। इससे आगे बढ़ने के लिए उसका मन ललचाएगा नहीं। किन्तु जब हम दूसरी बार बालक को वहाँ ले जाएंगे, तो इस बार वह प्राणियों की आदतों के बारे में, उनकी खुराक के बारे में और उनकी हलचलों के बारे में सोचने लगेगा। तीसरी बार जाने पर बालक प्राणियों की तुलना एक-दूसरे के साथ करेगा। वह उनके स्वभावों की और उनकी आदतों की तुलना करेगा। इस तरह जब बालक एक ही वस्तु के परिचय में बार-बार आता है, तो वह स्थूल में से सूक्ष्म की तरफ जाने लगता है, और अन्त में उसको उस वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। किन्तु यदि हम बालक को किसी बाग़ में ले जाएँ और वहाँ उसको एक सिंह के पास बैठा कर सिंह के बारे में अथ से इति तक सारी जानकारी हासिल करने को कहें, तो बालक को वैसा करना रुचेगा ही नहीं। यह काम उसको अपने मन के अनुकूल लगेगा ही नहीं। उसका स्वभाव तो एक बार समूचे बाग़ में घूम लेने का, और पहले परिचय में उसकी आँख आदि इन्द्रियों में जो-जो भी चीजें उड़-उड़ कर समा जाएँ, उनको जान लेने, समझ लेने, और उनका आनन्द लूट लेने का है। जैसे-जैसे परिचय बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके ज्ञान और आनन्द की गहराई बढ़ती रहती है।

अमुक एक उमर के लोगों की राजनीतिक विषयों में कोई रुचि और गति होती ही नहीं। धर्म सम्बन्धी तत्त्व अमुक एक उमर के लोगों की समझ में आ ही नहीं सकते। चित्रकला की कुछ अनुपम कृतियों को अमुक एक

उमर के लोग समझ ही नहीं पाते। एक अमुक उमर में बालक की अमुक-अमुक शक्तियाँ विकसित होती नहीं हैं। इसलिए बालक अपनी एक उमर में एक ही वस्तु के अमुक पहलुओं और ब्योरों को समझ सकता है, सबको नहीं। इसी कारण बगीचे में जाने पर बालक को वहां की सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा नहीं होती। बालक फूल को देख सकता है, वह उसको सूँघ सकता है, उसके रंग का मजा ले सकता है, उसके आकार का अनुभव कर सकता है, किन्तु उसकी दृष्टि में फूल का भौमितिक आकार समाता नहीं। उसको उसके मूल्य की कोई कल्पना नहीं हो सकती। फूल की सृष्टि करने वाले महान सृष्ठा का कोई गम्भीर बोध उसकी बुद्धि में समाता नहीं, फिर भी जैसे-जैसे परिचय बढ़ता जाता है, और जैसे-जैसे शक्तियों का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे वह फूलों की बातों को अधिक-से-अधिक गहराई के साथ समझने लगता ही है। इसी तरह शुरू-शुरू में पेड़-पत्तों को देखकर बालक के मन में वनस्पति-शास्त्र के विचार नहीं जागते, और न सिंह आदि प्राणियों को देखकर प्राणि-शास्त्र के विचार ही उसके मन में प्रकट होते हैं।

बालक के मन के इस स्वभाव के कारण इस स्वभाव के विरुद्ध पड़ने वाली किसी पद्धति से हम उसको सिखाने का या किसी प्रकार का कोई ज्ञान देने का प्रयत्न करेंगे, तो बालक को वह रुचेगा नहीं। उसमें उसको मजा नहीं आएगा। हो सकता है कि भय, लालच या दूसरे किसी कारण से वह सब याद कर ले, किन्तु इस तरह प्राप्त ज्ञान को वह जल्दी-से-जल्दी भूलने का प्रयत्न अवश्य ही करेगा। यह बात तो हम खुद ही कहते रहते हैं कि आज तक ऐसा ही होता रहा है।

इसलिए ज्ञान प्राप्त करने की बालक की अपनी कुछ स्वाभाविक टेवें होती हैं जैसे,

1. ज्ञात में से अज्ञात में जाना।
2. स्थूल में से सूक्ष्म में जाना।
3. अपनी उमर के हिसाब से विकसित इन्द्रियों को और मन-बुद्धि को जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उनका ही ज्ञान लेना।

बालक की इन तीन टेवों का अनुसरण करके ही हम शिक्षा-पद्धति का निर्माण करें। बालक के मन की ऐसी दूसरी कई विशेषताएँ हैं, जिनकी अवगणना करके हम किसी सफल शिक्षा-पद्धति की रचना कर ही नहीं सकते। हम यहां यह न भूलें कि ऊपर गिनाई गई टेवें उदाहरण रूप हैं, टेवों की सम्पूर्ण सूची-रूप नहीं। उन्मेष-पद्धति में ऊपर लिए गए तीनों नियमों की रक्षा होती है। पहले स्थूल बातें सिखाई जाती हैं, बाद में उनके आस-पास की छोटी-छोटी बातें, और अन्त में बिलकुल सूक्ष्म बातें।

जैसे, उन्मेष-पद्धति एक शिक्षा-पद्धति है, वैसे ही उसमें वस्तुओं के निर्माण की एक योजना भी है। वस्तु की रचना एक अमुक ऐसी पद्धति से करना कि जिससे बालक के लिए ज्ञान प्राप्त करने का काम सरल बन जाए। दूसरे शब्दों में इसको यों कहा जा सकता है कि ज्ञान प्राप्त करने की बालक की सहज प्रकृति को ध्यान में रखकर जब वस्तु की रचना की जाती है, तो वह वस्तु-निर्माण की योजना कहलाती है। आजकल इतिहास काल-क्रमानुसारी पद्धति से पढ़ाया जाता है। इसके कारण बालक को अपनी उपर्युक्त तीन टेवों कि विरुद्ध जाकर घटनाओं की रूखी और नीरस जानकारी अपने दिमाग़ में ठूँस-ठूँस कर फिर उसको उगलते रहने की दुःखद क्रिया करनी पड़ती है। काल-क्रमानुसारी पद्धति में बालक को इतिहास की छोटी और बड़ी महत्व की और महत्वहीन, सब प्रकार की घटनाओं को एक सिलसिले से सीखना होता है। पहले उसको बाबर के बारे में जितना भी जानने लायक है, उतना सब जानना ही होता है। बाबर के बचपन की बातों से लेकर, राजकाज के मामलों में बाबर की नीति और निपुणता आदि की सारी बातें भी बालक को जाननी ही होती हैं। बालक को यह भी जानना चाहिए कि बाबर ने कौन-कौन-सी बड़ी लड़ाइयां लड़ी। बालक को अपनी इसी उमर में औरगंजेब या अकबर के चरित्र के साथ बाबर के चरित्र की तुलना करने का बुद्धि से जुड़ा ऊँचा काम भी करना होता है। पूरे ब्योरे के साथ बाबर की जानकारी हासिल कर लेने के बाद ही उसके बेटे हुमायूँ की बात आती है। तब तक हुमायूँ का नाम भी नहीं लिया जा सकता।

काल-क्रमानुसारी पद्धति से इतिहास की पढ़ाई को कठिन बनाने में ये बातें भी कारण-रूप बनती हैं। इसके बदले इतिहास हमको उन्मेष-पद्धति से पढ़ाना चाहिए।

उन्मेष-पद्धति में वस्तु की रचना होती है। उन्मेष-पद्धति द्वारा रचित वस्तुओं में नीचे लिखी बातें तो होनी ही चाहिए। वस्तु चाहे पुस्तक के रूप में हो, पदार्थ के रूप में हो, नक़शे के रूप में हो, अथवा आलेख के रूप में हो। जैसे,

1. रचना ऐसी होनी चाहिए कि जिसमें वस्तु का समग्र दर्शन हो सके।

2. दर्शन रेखा के रूप में हो।

3. रेखा के रूप में दिए गए दर्शन की वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए कि उनके आसपास दूसरे दर्शन की बातें स्वाभाविक रूप से गूँथी जा सकें अथवा रची जा सकें।

4. दूसरे दर्शन में पहले दर्शन के ब्योरों के आसपास नए ब्योरों की रचना की जानी चाहिए। ये ब्योरे फिर तीसरे दर्शन के लिए तो पहले दर्शन के रूप में ही हो सकते हैं।

इस प्रकार ज्ञात वस्तुओं के आसपास रोज़-रोज़ अज्ञात वस्तुओं को बढ़ाते हुए आरम्भ में रखी गई समग्र वस्तु के रेखाचित्र को सम्पूर्ण चित्र का रूप दे देना चाहिए।

इस रेखाचित्र में रंग भरते समय चित्र की इकाई को भूलना नहीं चाहिए। इसी तरह यह बात भी ध्यान में बनी रहनी चाहिए कि मूल वस्तु या मूल केन्द्र के आसपास ही नए वर्तुलों की रचना की जानी है।

इस रेखाचित्र में देश का पूरा इतिहास आ जाना चाहिए। चित्र रेखाओं से बना होने पर भी वह समय के साथ जुड़ा रहना चाहिए। इस रेखाचित्र में जगह-जगह व्यक्तियों के या घटनाओं के रूप में ऐतिहासिक महत्व वाले स्तम्भ या दीपस्तम्भ खड़े किए जाने चाहिए। इन दीपस्तम्भों की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि इनके आसपास रखे जाने वाले दीयों के साथ इनका तालमेल बना रहे। इस प्रकार की रचना करने में ही इतिहास-लेखक की कुशलता निहित है। पाठक को बिना किसी श्रम के यह प्रतीति होनी चाहिए कि वह एक

निश्चित प्रदेश में बड़े-बड़े क़दम रखता हुआ घूम रहा है, अथवा रेलगाड़ी में या मोटर में यात्रा कर रहा है। किन्तु जब-जब वह गाड़ी से या पैदल उसी रास्ते से लौटेगा, तब-तब उसके रास्ते में उस रास्ते की बहुतेरी चीज़ें पड़ेंगी। रेलगाड़ी से गए हुए रास्ते पर जब फिर ताँगे से या पैदल जाते हैं, तो जैसे उस रास्ते में आई हुई जगहों का नयापन खत्म नहीं होता, या उनमें नीरसता उत्पन्न नहीं होती, बल्कि जब पुरानी परिचित जगहों को दूसरी बार दूसरे ढंग से देखते या मिलते हैं, तो हम उनको अधिक स्पष्ट रूप में पहचानते हैं, और उसमें आनन्द का अनुभव करते हैं। इतिहास को दूसरी बार पढ़ने पर भी ऐसा ही अनुभव होना चाहिए। जिस तरह पुराने मित्रों को बार-बार नई पोशाकों में और नई व्यवस्था में मिलने पर हमारा आनन्द बढ़ता है, और हमको नई-नई पोशाकों की जानकारी हासिल होती है, उसी तरह उन्मेष-पद्धति से लिखे गए इतिहास के विषयों में भी होना चाहिए। यदि ऐसा हो सके, तो उन्मेष-पद्धति पर नीरसता का जो दोष मढ़ा जाता है, वह समाप्त हो जाए।

यहाँ हम भूगोल का उदाहरण लें। मान लीजिए कि हमको उन्मेष-पद्धति से भारत का भूगोल पढ़ाना है। इसमें महत्व का प्रश्न यह है कि भूगोल-सम्बन्धी सामग्री की रचना कैसे की जाए? बेशक आज हमारे पास जिस प्रकार का नक़शा है उसको तो हमें छोड़ ही देना होगा। हम एक नया नक़शा बनाएं। पहले हम पूरे भारत का एक रेखाचित्र तैयार करें। उसमें सिर्फ़ बड़े पहाड़, बड़ी नदियाँ, बड़े रेगिस्तान, बड़े नगर, और बड़े जंगल दिखाएं। यह पहला दर्शन हुआ। बालक अपनी आँखों से देखकर ही इन सबको सीख-समझ लेगा। इसके बाद उसकी आँखों के सामने हम दूसरा नक़शा रखें। इस नक़शे में हम उन पुराने मित्रों के पास उनके छोटे मित्रों को दिखाएं। बड़े पहाड़ के पास छोटे पहाड़, बड़ी नदियों के पास छोटी नदियाँ, आदि दिखाई जाएँ। इस तरह क्रम-क्रम से हम पूरे नक़शे को भर दें। इकाई एक ही रहे, और ब्योरे बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्णता का रूप धारण कर लें। इसी तरह दूसरी पुस्तकों की मदद से और दूसरे नक़शों की मदद से हम बालकों के सामने भूगोल सम्बन्धी दूसरी जानकारियाँ रख सकते हैं।

इसी प्रकार हम गणित, व्याकरण आदि विषयों की पुस्तकों की रचना कर सकते हैं, अथवा उनकी वस्तुओं को सिलसिले से सजा कर रख सकते हैं। इस सजावट के अनुसार बालकों को सिखाना और पढ़ाना चाहिए। इससे पढ़ाने का काम आसान हो सकेगा।

:14:

कालक्रमानुसारी-पद्धति

आमतौर पर इतिहास पढ़ाने में इन तीनों पद्धतियों का उपयोग किया जाता है—उन्मेष-पद्धति, कालक्रमानुसारी-पद्धति और व्युक्रम-पद्धति।

उन्मेष-पद्धति के विषय में इससे पहले चर्चा की जा चुकी है। आज कालक्रमानुसारी-पद्धति का चलन अधिक है। इस पद्धति का अर्थ यह है कि काल के प्रवाह के साथ इतिहास जैसा बना है, उसको कालक्रम के अनुसार वैसे ही पढ़ाना। मतलब यह कि इतिहास के आरम्भ से उसके अन्त तक उसको सालवार पढ़ाना।

इस पद्धति के अनुसार पढ़ाने के लिए बहुतेरी पाठ्य-पुस्तकें लिखी गई हैं। सारी दुनिया के विद्यालयों में आज इतिहास इसी पद्धति से पढ़ाया जाता है।

इस कारण इतिहास पढ़ाने का काम हमेशा ही कठिन और नीरस रहा है। इसका कारण यह है कि छोटे विद्यार्थियों को भी आरम्भ ही से इतिहास पढ़ाना होता है। इसमें जिस भूतकाल में विद्यार्थियों की अपनी कोई दिलचस्पी नहीं होती, और हो भी नहीं सकती, उस भूतकाल की बातें उनको रटनी पड़ती हैं। प्राथमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों की इतिहास-सम्बन्धी कल्पना इतनी विकसित नहीं होती कि वे इतिहास की परतों की गहराई में जाकर इतिहास के पुराने प्रश्नों को अपने मन में प्रत्यक्ष कर सकें। चूंकि एक विषय के रूप में विद्यार्थियों के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक होता है, इसलिए परीक्षा में पास होने की दृष्टि से विद्यार्थी इतिहास को रट लेते हैं। इतिहास की वे घटनाएं उनके दिल को छू तो नहीं पातीं। अलबत्ता, इतिहास की कठिन पढ़ाई को कुछ रुचिकर

बनाने के लिए शिक्षक कहानियों की मदद से इतिहास पढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। इधर हाल ही में कहानी के रूप में इतिहास लिखा जाने लगा है। फिर भी इतिहास की पढ़ाई जानदार नहीं बन पाती, क्योंकि इन बातों को जानने का उद्देश्य विद्यार्थियों की समझ में नहीं आता। इतिहास का पुराना वातावरण उनके आसपास कहीं होता नहीं है। आज तो हमारे विद्यालयों में इतिहास के वातावरण के बीच विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ाने के कोई भी साधन सुलभ होते नहीं हैं। हम बिना किसी संकोच के यह कह सकते हैं कि आज के इतिहास-शिक्षक की दृष्टि भी इतिहास की गहराई तक पहुंच नहीं पाती है। शिक्षक को भी इतिहास एक पुस्तक-सा लगता है, और इतिहास की सारी घटनाएँ भी उसके सामने धरती की सतह पर बने पहाड़ों, नदियों अथवा पेड़ों की तरह खड़ी रहती हैं। इतिहास के बड़े-बड़े जानकारों के दिमाग़ में इतिहास का जो भव्य गौरव और प्राचीन से अर्वाचीन तक की जो कल्पना होती है, आम शिक्षक के मन में वैसी कोई बात होती नहीं है। अतएव कालक्रमानुसारी-पद्धति से इतिहास लिखने का काम तर्कशुद्ध होते हुए भी पढ़ाने की दृष्टि से यह पद्धति अशास्त्रीय है, अर्थात् बालक के मन की रचना से भिन्न है।

वैसे, इतिहास पढ़ाने की सफलता को और बालकों के हित को ध्यान में रखकर हमको इस पद्धति से इतिहास पढ़ाना छोड़ देना चाहिए।

:15:

व्युत्क्रम-पद्धति

व्युत्क्रम-पद्धति कालक्रमानुसारी पद्धति से बिलकुल उलटी है। इसमें इतिहास को वर्तमान काल से शुरू करके पीछे की तरफ जाना होता है, और हमको अपना परिचय देने के बाद अपने पूर्वजों का और फिर उनके पूर्वजों का परिचय देना होता है। आज की स्थिति की जानकारी देने के बाद उसके पहले की स्थिति की, और फिर उससे भी पहले की स्थिति की जानकारी देनी होती है। इस तरह विद्यार्थियों के सामने घटी हुई घटनाओं की जानकारी रखने की पद्धति को व्युत्क्रम-पद्धति कहा जाता है। पहली पद्धति की तुलना में यह पद्धति स्वाभाविक है। आज बालक अपने आसपास की चीज़ों में, अर्थात्

वर्तमान में, अपनी रुचि दिखा सकता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। और स्थूल में से सूक्ष्म में अथवा ज्ञात में से अज्ञात में जाने के शिक्षा-विषयक सिद्धान्त के अनुसार हम बालक को वर्तमानकाल में से भूतकाल में सरलता के साथ ले जा सकते हैं। जबकि कालक्रमानुसारी पद्धति में अज्ञात में से धीरे-धीरे ज्ञात में जाने का उलटा क्रम चलता है।

व्यत्क्रम-पद्धति से पढ़ाने में इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन करना अनिवार्य नहीं होता। इसमें केवल काल का क्रम बदलकर इतिहास पढ़ाना होता है।

इस पद्धति से काम करने में भूगोल की अधिक-से-अधिक सहायता ली जा सकती है। इससे इतिहास और भूगोल दोनों में एक जान आ जाएगी। चूँकि इतिहास की शिक्षा का मूल प्रत्यक्ष में है, इसलिए इसमें इतिहास की कल्पना का विकास स्वाभाविक रूप से होगा। जिस तरह एक पहाड़ के बाद दूसरा पहाड़ दिखाई पड़ता है, उसी तरह एक के बाद एक घटनाओं का सिलसिला जारी रहने से विद्यार्थी कुतूहल के साथ और रुचि-पूर्वक इतिहास की परतों को खोलता रहेगा।

इस पद्धति के अनुसार काम करते समय शुरू-शुरू में शिक्षक को यह काम कठिन मालूम होगा। शिक्षक इसमें भी कहानी कहने की रीति का उपयोग कर सकता है। किन्तु इससे भी आगे बढ़कर वह यात्राओं, प्रदर्शनियों, संग्रहालयों और जीती-जागती दुनिया के द्वारा बालक का ज्ञान बढ़ा सकता है। कालक्रमानुसारी पद्धति की तरह ही इस पद्धति में भी शिक्षक नाट्यप्रयोग-पद्धति का उपयोग अवश्य ही कर सकता है। प्रत्यक्ष वस्तु का नाटक खेलना बालकों के लिए आसान होगा। इसी के साथ भूतकाल में प्रवेश करने की दृष्टि से धीरे-धीरे विद्यार्थियों की अभिनय-वृत्ति का भी विकास होता रहेगा।

इतिहास-सम्बन्धी आज की प्रचलित पाठ्य-पुस्तकें किसी भी अच्छे शिक्षक को अथवा इतिहास के तत्त्ववेत्ता को अच्छी लगने लायक हैं नहीं। आज की पाठ्य-पुस्तकें तो परीक्षा की दृष्टि से लिखी गई होती है। आज की

पाठ्य-पुस्तकों से घिरी होने के कारण कोई भी अच्छी पद्धति अच्छी होते हुए भी पूरी तरह सफल नहीं हो पाती। अतएव इतिहास के जानकारों के सामने बालकों के हित के लिए अच्छी पाठ्य-पुस्तकें लिखने की अपनी माँग रखकर हम इस चर्चा को यहीं रोक देते हैं।

:16:

पुस्तकालय-पद्धति

पुस्तक स्वयं एक शिक्षा-गुरु है, और पुस्तकालय विद्यालय है। विद्यालय में लोग ज्ञान पाने के साधन-भर पाते हैं, जबकि पुस्तकालय में जाकर तो वे स्वयं ज्ञान प्राप्त करते हैं।

एक अच्छा पुस्तकालय कई शिक्षकों की गरज पूरी करता है। शिक्षक की तरह पुस्तकालय विद्यार्थियों को न तो धमकाता है, न उनसे अनुशासन पलवाता है, न कक्षा में चढ़ाता और उतारता है, न मिथ्या स्पर्धा में प्रवेश कराता है, और न परीक्षा का भय ही उत्पन्न करता है। फिर भी वह पल-पल में अपने पास आने वालों को प्रेम-पूर्वक, विनय-पूर्वक और रुचि-पूर्वक पढ़ाता रहता है।

किसी भी स्थान में, चाहे विद्यालय के साथ अथवा विद्यालय के बिना भी, पुस्तकालय शिक्षा की एक स्वयं पद्धति-स्वरूप है।

हर एक विद्यालय में पुस्तकालय को एक अतिरिक्त शिक्षक माना जाना चाहिए। शिक्षकों को चाहिए कि वे विद्यार्थियों को पूरे समय तक पढ़ाते रहने का अपना मोह छोड़कर उनको पुस्तकालय में जाने की अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता दें। स्वाध्याय-पद्धति में विद्यार्थियों के लिए पुस्तकों के परिचय की अच्छी व्यवस्था रहती है। प्राथमिक विद्यालय की शिक्षा-व्यवस्था में बालकों को विद्यालय के आधे समय तक पुस्तकालय में रखने से शिक्षा का काम भी निश्चित रूप से अधिक सुदृढ़ बनेगा। जिस समय में विद्यार्थी पुस्तकालय में जाकर बैठें, उस समय में शिक्षक वहाँ एक अच्छे ग्रंथपाल की भूमिका निबाहे। पुस्तकालय की कौन-कौनसी पुस्तकें अच्छी हैं, किनको, कौनसी पुस्तक दी जाए, किसकी रुचि किस पुस्तक में जगाई जाए, आदि काम शिक्षक वहाँ करता रहे।

पुस्तकालय विद्यालय के रूप की तरह ही प्रयोगशाला के रूप में भी काम करता रहेगा। ग्रंथपाल के रूप में शिक्षक अच्छी-बुरी पुस्तकों की जांच करता रहे, बुरी पुस्तकों को टाल कर वह अच्छी पुस्तकें विद्यार्थियों के सामने रखे। किस उमर में कौनसी पुस्तक रुचि-पूर्वक पढ़ी जाती है, किन विषयों पर लिखी गई पुस्तकें किस उमर में अधिक पढ़ी जाती हैं, पुस्तक को पढ़ते समय थकावट की मात्रा कितनी बढ़ती या घटती है, कुल मिलाकर विद्यार्थी पर पढ़ी हुई पुस्तक की कैसी छाप पड़ती है, आदि विषयों पर अपनी अलग -अलग टिप्पणियाँ तैयार करके उनके अध्ययन की मदद से शिक्षक कई सत्यों अर्थात् सिद्धान्तों का सार निकाल सकता है।

जब पुस्तकालय एक शिक्षा-पद्धति का रूप लेता है, तो अपने संग्रह में और अपनी रचना में वह एक सुव्यवस्थित स्थान का स्वरूप धारण कर लेता है। प्रवेशिका अथवा बालपोथी से लेकर आठवीं कक्षा तक की भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि विषयों की पुस्तकें, पुस्तकालय में होनी चाहिए। क्रम-क्रम से आगे बढ़ने वाली पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते पढ़ने वाले का ज्ञान भी एक सिलसिले के साथ आगे बढ़ता रहेगा। इस तरह सिलसिले से टाँड पर रखी गई पुस्तकें पाठ्य-पुस्तकों की गरज पूरी करेंगी। पाठ्य-विषयों के जानकार लोगों को अभी तक इस प्रकार की पुस्तकों की रचना करने की बात सूझी नहीं है, और शिक्षकों को भी ऐसी पुस्तकें बहुत ज़रूरी लगी नहीं हैं। क्योंकि अब तक पुस्तकालय-परिचय-पद्धति की अपेक्षा पाठ्यक्रम का और व्याख्यान-पद्धति से शिक्षा देने का ज़ोर ही बहुत ज़्यादा रहा है।

विद्यालयों की तरह ही विद्यालयों के बाहर भी पुस्तकालय रूपी विद्यालय गाँव-गाँव में और मुहल्ले-मुहल्ले में स्थापित होने चाहिए। शिक्षकों को वेतन देना पड़ता है, जबकि पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें खरीदनी होती हैं। शिक्षक को पढ़ाने की मेहनत करनी होती है, जबकि पुस्तकों को ज्ञान देने की कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती। हाँ, बार-बार पढ़े जाने पर उनको फटना तो पड़ेगा ही। शिक्षक की निश्चित उपस्थिति के बिना विद्यालयों में

पढ़ाई का काम हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत, अगर हम पुस्तकालयों के दरवाज़े चौबीसों घण्टे खुले रखेंगे, तो पढ़ाई चौबीसों घण्टे चलती रहेगी।

व्यवस्था, शान्ति, सभ्यता और विनय की शिक्षा देते रहने का प्रबन्ध भी पुस्तकालय कर सकेगा। पुस्तकों का उपयोग कैसे करना, उनको किस तरह से पढ़ना, पास में बैठ कर पढ़ने वाले के साथ कैसा व्यवहार करना, कैसे आना और कैसे जाना, बातचीत किस तरह से करना, आदि बातों को सीखने में अपने आप ही काफी पढ़ाई हो जाती है। इस तरह पुस्तकालय की भी अपनी एक शिक्षा-पद्धति है।

:17:

मुखपाठ-पद्धति

जिस पद्धति में गुरु विद्यार्थी को मुंह से बोलकर पाठ देते हैं, और जिसमें पाठ लेने के बाद विद्यार्थी उसको पोथी अथवा पुस्तक में देख-देखकर जबानी याद कर लेते हैं, वह पद्धति मुखपाठ-पद्धति कही जाती है। रुद्री और महिम्न से लेकर वेद तक की शिक्षा भी प्राचीन काल से इस पद्धति द्वारा दी जाती रही है। प्राचीन काल में जब पुस्तकें नहीं थीं, उन दिनों यही एक पद्धति प्रचलित थी। आज हम इस बात की भव्य चर्चा सुनते रहते हैं कि प्राचीन काल में गुरुओं के आश्रम वेद-शिक्षा की ध्वनि से गूँजा करते थे। मुँह से दिए जाने वाले पाठों के चिह्न और कण्डिकाएँ हाथों के और सिर के हलन-चलन से सूचित होती थीं। इसको स्वर के साथ किया गया अभ्यास कहा जाता था। समय बीतने पर मुख के इन स्वर चिह्नों को ताड़पत्र पर अंकित किया गया होगा। आज कण्ठगत ज्ञान पुस्तकगत हो चुका है, फिर भी शास्त्री और पुराण-गुरु अपने विद्यार्थियों को मुखपाठ-पद्धति से पढ़ाते हैं।

जो ज्ञान सदैव कण्ठ में ही संग्रह करके रखने लायक है, उसको इस मुखपाठ-पद्धति से ग्रहण करना चाहिए। जो विषय काव्य के रूप में संकलित या ग्रथित होते हैं, उनको मुखपाठ-पद्धति से सीखना ही सदा सरल होता है। निःसन्देह यजुर्वेद के समान अंशों को गद्य रूप में सिखाने के बाद भी गद्य-पाठ की कठिनाई के कारण ही गद्यगत विषयों के सूत्रों की रचना करनी पड़ी होगी।

आज के हमारे विद्यालयों में मुखपाठ-पद्धति प्रचलित नहीं है, क्योंकि आज का ज्ञान पद्य के बदले गद्य में अधिक है। इसके अलावा, अब पद्यगत ज्ञान को भी कण्ठाग्र ही करना आवश्यक नहीं रहा। चूँकि अब समय-समय पर पढ़ कर उसका आनन्द लिया जा सकता है, इसलिए आज की स्थिति में मुखपाठ-पद्धति का कोई उपयोग रहा नहीं है, फिर भी कविता, मुखपाठ और पहाड़े इस पद्धति के अवशेष के रूप में आज प्रचलित हैं।

शिक्षा में मुखपाठ को फिर जोड़ना आवश्यक है। बिना समझे मुखपाठ करने अथवा गुरु के डर से मुखपाठ करने की बात को हम स्वीकार न करें। किन्तु कई वस्तुएँ ऐसी हैं, जो जीवन में कण्ठाग्र होनी चाहिए, जिनके लिए बार-बार पुस्तक देखना पुसाता नहीं है, जो ज्ञान हाजिर हथियार के समान होता है, वह ज्ञान तो कण्ठाग्र ही होना चाहिए। आज के समय में मुखपाठ को सरस संगीत के साथ जोड़कर उसकी मदद से अच्छा, उपयोगी और प्रचुर ज्ञान दिया जाना चाहिए।

मुखपाठ-पद्धति से बहुत-सी पाठ्य-पुस्तकों में कमी आती है। किन्तु इसके कारण गुरुओं का अवलम्बन बढ़ता है। बुद्धि-शक्ति के विकास के लिए स्वतंत्र प्रयत्न के साथ गुरु की सहायता-भर आवश्यक है। किन्तु संचित ज्ञान को और केवल स्मृति पर टिका कर रखे जाने वाले ज्ञान को इस पद्धति से प्राप्त करने की व्यवस्था करने में कोई हानि नहीं है। इसी तरह वस्तु को समझाने के बाद उसको याद कर लेने के लिए मुखपाठ का उपयोग अवश्य कर लेना चाहिए। आज मुखपाठ के विरुद्ध जो विरोध बढ़ता जा रहा है, अब वह शान्त हो जाना चाहिए।

चतुर शिक्षक को चाहिए कि वह शिक्षा के क्षेत्र में मुखपाठ को महत्व का स्थान दे।

:18:
बैन-पद्धति

हमारे मुहल्ले की बहनें मेरी काकी से रामकथा और दूसरी गीतकथाओं को 'बैन' अर्थात् बोल ले-लेकर सीखा करती थीं। काकी

पढ़ी-लिखी थीं। वे स्वयं कथाएँ पढ़ कर उनको कण्ठाग्र कर लिया करती थीं और दूसरी बहनों को दो-दो पंक्तियों के बैन दे-देकर वे उनको सैकड़ों पंक्तियाँ सिखा देती थीं।

काकी की विद्यार्थिनियाँ रात में दो-दो पंक्तियों के बैन लेतीं और अगली रात तक चक्की पीसते, दलते, पानी भरते, और रसोई बनाते समय बार-बार उस बैन को याद कर-करके वे अपना पाठ पक्का करती थीं। मैं भी बैन-पद्धति का एक विद्यार्थी रहा। जब मेरी बड़ी बहनें बैन भूल जाती थीं, तो मैं उनको याद दिला देता था।

इस बैन-पद्धति से, जिसको हम वचन-पद्धति या बोल-पद्धति भी कह सकते हैं, हमारी पुरानी से पुरानी और क़ीमती-से-क़ीमती साहित्य-समृद्धि अब तक एक बैन से दूसरे बैन, और एक मुँह से दूसरे मुँह तक पहुंचती रही है। हमारा निरक्षर-सा देश आज भी अपने जीवन की संस्कारिता के बहुतेरे अंशों को अपने बीच सहेजे हुए हैं, साहित्य और कला के क्षेत्र में उसकी दृष्टि आज भी निर्मल है, उसका एक कारण यह बैन-पद्धति है। गलियों और मुहल्लों में काकियाँ और दादियाँ बैन-पद्धति चलाया करती थीं। गुरु अपने विद्यार्थियों को एक-एक श्लोक मुँह से सिखाकर कण्ठाग्र करवाते थे। आज भी संस्कृत, व्याकरण और साहित्य का, धार्मिक स्तोत्रों और सुभाषितों का अध्ययन इसी पद्धति से कराया जाता है।

इस बैन-पद्धति के क्षेत्र में जिन-जिन बातों का समावेश हो सके, उनको आज भी शिक्षक, और विशेषकर गाँवों में पढ़ाने वाले शिक्षक, इस पद्धति से सिखा सकते हैं, उनको सिखाना भी चाहिए। सरकारी शिक्षा-पद्धति ने पाठ्य-पुस्तकों का और पदार्थों का अम्बार बढ़ा कर बिना पैसे के सिखाने वाली इस पुरानी पद्धति को एक गड्ढे में डाल दिया है। जो शिक्षक सरकार की मर्यादा में नहीं आते हैं, वे तो अपने विद्यार्थियों को पाठ्य-पुस्तकों से और विद्यालय में इकट्ठा किए गए और शीशियों में बन्द करके रखे गए पदार्थों के दर्शन से बचा ही लें। वे अपने विद्यार्थियों को बैन के यानी वचन के द्वारा विद्या दें और विद्यार्थियों को उसका अनुभव वस्तुओं को प्रत्यक्ष दिखा-दिखा कर करवाएँ।

जो विषय काव्य की मर्यादा में नहीं आ पाते थे, हमारे पुराने लोग उन विषयों को सिखाने के लिए वे बैन-पद्धति की मदद से उनको काव्य का रूप दे देते थे। आज के कुछ शिक्षक इतिहास और भूगोल के समान कुछ विषयों को काव्य के द्वारा सिखाते हैं। ऐसे शिक्षकों का मजाक उड़ाने वाले लोग अपने इस व्यवहार द्वारा सिद्ध करते हैं कि वे स्वयं बैन-पद्धति का महत्व नहीं समझते। संगीत के स्वरूप का शिक्षण आज भी काव्य द्वारा ही दिया जाता है। अभी-अभी मेरे एक शिक्षक मित्र ने आरोग्य के विषय को काव्य का रूप देकर उसको बहुत अच्छी तरह अपने विद्यार्थियों को सिखाया था।

आज की पाठ्य-पुस्तकों वाली पद्धति मनुष्य की स्मृति के विकास को कोई स्थान नहीं देती। वह 'ग्रंथ गांठ में और विद्या पाठ में ' के सिद्धान्त को भंग करती है। हम देख रहे हैं कि आज का ज्ञान स्थायी नहीं होता। वह परीक्षा तक ही टिकता है। उसका स्वरूप ज़रूरत के समय काम देने का नहीं होता, बल्कि ऐन मौक़े पर वह बेकार साबित होता है।

बैन-पद्धति का दूसरा लाभ यह है कि उसके कारण निरर्थक विपुल पढ़ाई बढ़ती नहीं। जो उत्तम है और ग्रहण करने लायक है, उसी का संग्रह बना रहता है, और बैन-पद्धति के द्वारा वह समाज को उत्तरोत्तर मिलता रहता है।

बैन-पद्धति के मुक़ाबले में, आज की दुनिया में, ऊपरी तौर पर पुस्तक-पद्धति का महत्व अधिक लगना स्वाभाविक है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अपेक्षा व्यक्ति के अहंकार को लेकर आज हम जिस तरह आगे बढ़ रहे हैं, उसके हिसाब से हो सकता है कि आज और कल भी पुस्तक-पद्धति मान्य बनी रहे। किन्तु जो लोग स्वर्णयुग की कल्पना कर सकते हैं, वे आज की पुस्तक-पद्धति के बदले बैन-पद्धति को सत्य-युग की पद्धति के रूप में फिर स्वीकार करेंगे।

यह बात सच है कि अपनी मौखिक परम्परा के कारण बैन-पद्धति में प्रायः भाषा की शुद्धि और अर्थ की दृष्टि से कुछ फ़र्क़ हो जाता है। परन्तु

यह फ़र्क़ हम जितना मानते हैं, उतने कम समय में नहीं होता। एक तरफ पुरातत्त्ववेत्ता आज बैन का यानी वचनों का संग्रह करके उनको सुरक्षित रखने का प्रयत्न कर रहे हैं, जबकि दूसरी तरफ बैन-संग्रह के साथ ही उसका प्रवाह रुक जाता है, अर्थात् वह पुस्तक में समाप्त हो जाता है।

अन्त में गाँवों के ग़रीब लोगों की शिक्षा में और जेल में रहने वाले क़ैदियों की शिक्षा में तो बैन-पद्धति ही शिक्षा की एक उत्तम पद्धति है। इस पद्धति को अमल में लाने का प्रयत्न सबको करना चाहिए।

:19:

श्रवण-पद्धति

जो-जो भी विषय श्रवणेन्द्रिय की, अर्थात् कान की इन्द्रिय की मर्यादा में आ सकते हैं, उन विषयों को हम श्रवण-पद्धति से भी सिखा सकते हैं। विशेष रूप से जिस विषय की शिक्षा में तर्क की प्रधानता नहीं होती, बल्कि कान की इन्द्रियों का अनुभव ही मुख्य होता है, उसको सिखाने में इस पद्धति का उपयोग सरलता के साथ किया जा सकता है।

छोटे बच्चे तीन साल की उमर तक इस पद्धति से ही अर्थात् सुन-सुनकर ही मातृभाषा सीखते हैं। बालकों को ध्वनिगोचर दुनिया का परिचय भी इसी रीति से होता है। कान के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक रीति का उपयोग हम एक शिक्षा-पद्धति के रूप में कर सकते हैं, उदाहरण के लिए, हम बालकों को श्रवण-पद्धति से संगीत सिखा सकते हैं। संगीत की प्रचलित पद्धति सरगम से विषय को आरम्भ करने की है। इसमें सा, रे, ग, म आदि का भेद समझने का काम श्रवणेन्द्रिय और बुद्धि दोनों को मिलकर करना होता है। अपने बाल-मन्दिर के बालकों को मैं लम्बे समय तक संगीत सुनाता ही रहा। जो बालक ध्वनि-मानस वाले थे, वे रुचि-पूर्वक संगीत सुनते रहते थे। उस समय मेरा हेतु उनको संगीत का संस्कार देने का था। मैंने यह माना नहीं था कि संगीत सुनते-सुनते संगीत-रसिक बनने के अलावा वे खुद गाने भी लगेंगे। मैं सोच ही रहा था कि बालक गाना किस तरह शुरू करें, तभी एक दिन मैंने देखा कि बालक अचानक ही गाने लगे

हैं। उसी समय मुझको श्रवण की शक्ति का पता चला। बीज बोकर उस पर पानी छिड़कते रहने से जैसे किसी सुन्दर प्रभात में अंकुर फूट निकलता है, उसी तरह संगीत के बोए हुए संस्कार अचानक ही अंकुरित हुए और बाल-मन्दिर का संगीत कक्ष नन्हें बालकों के सुरीले ताल-बद्ध गान से गूँज उठा। उस दिन से मैंने श्रवण कराकर ज्ञान देने की पद्धति का अधिक अनुभव किया। मैंने देखा कि बालकों को बार-बार कहानियाँ सुनाते रहने से वे कहानियाँ बिना रटे ही बालकों को जबानी याद हो गईं।

इस अनुभव के कारण मैंने आदर्श वाचन में एक नई दृष्टि प्राप्त की। अब तक आदर्श वाचन की मदद से मैं सुवाचन के संस्कार देना चाहता था। किन्तु अब मेरी समझ में यह बात आ गई कि शिष्ट साहित्य को सुनने-भर से बालक में साहित्य-रसिकता के साथ ही साहित्य-सृजन की शक्ति भी विकसित हो सकती है।

काका साहब कालेलकर ने मुझसे कहा था कि अंग्रेजी पढ़ाने की प्रत्यक्ष पद्धति में अंग्रेजी कहानियाँ बिना अर्थ समझाए ही विद्यार्थियों को हावभाव के साथ बराबर सुनाते रहना चाहिए। इसी तरह बिना अर्थ बताए ही उनके साथ बातचीत करते रहना चाहिए। इसके लिए उन्होंने प्रत्यक्ष-पद्धति में मूक-पद्धति का या ऐसा ही कोई नाम मुझको बताया था। आज मैं इस क्रिया को श्रवण-पद्धति में रख सकता हूँ।

शिक्षकों को चाहिए कि अन्धों के लिए वे अलग-अलग प्रकार से श्रवण-पद्धति का उपयोग करें। जहाँ दर्शन की इन्द्रिय के सहारे कोई वस्तु प्राप्त की ही न जा सके, वैसे निर्जन स्थान में अथवा जेल जैसी जगहों में भी श्रवण-पद्धति का अच्छा उपयोग किया जा सकता है।

श्रवण-पद्धति व्याख्यान की या प्रवचन की पद्धति नहीं है। व्याख्यान की अथवा प्रवचन की पद्धति तो बुद्धिगम्य विषयों के लिए होती है। श्रवण-पद्धति में बार-बार सुनाते रहने की व्यवस्था रहती है। बार-बार सुनाकर जिससे सिखाया जा सकता है, वह पद्धति श्रवण-पद्धति होती है। बार-बार रोकने-टोकने को श्रवण-पद्धति नहीं कहा जा सकता। श्रवण-पद्धति

में सुनने लायक किसी भी विषय को बार-बार श्रवण-पट्ट पर डालना होता है।

श्रवण-पद्धति का परिणाम तुरन्त प्रकट नहीं होता। उसकी फसल लम्बे समय के बाद पकती है। इसमें शिक्षक को विषय प्रस्तुत करने के लिए अच्छी तैयारी के साथ वातावरण की निश्चितता और स्थिरता की व्यवस्था करनी होती है। कान पर एक की एक ही बात उसी स्वरूप में पड़नी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ, तो कान के कैमरे पर एक के बाद एक अलग-अलग चित्रों की छाप पड़ने से एक भी चित्र की स्पष्ट छाप पड़ नहीं सकेगी। जिस किसी भी चीज़ को सुनाकर सिद्ध करना हो, उसको उसी ढंग में और लगभग वैसे ही वातावरण में सुनाते रहना चाहिए।

:20:

कथा-पद्धति

हम हर एक विषय को कथा से शुरू कर सकते हैं, अथवा सिखा सकते हैं, इसलिए कथा-कथन भी पद्धति का एक अंग बन जाता है।

यूरोप में लम्बे समय से कथा-कहानी के द्वारा इतिहास सिखाने का काम शुरू करने की प्रथा चल रही है। हमारे देश में भी कथा-कहानी के ज़रिए इतिहास सिखाने की शुरूआत हुई है। कहानी कहने में कुशल शिक्षक बालकों के सामने इतिहास की जानकारी ऐसे प्रभावशाली ढंग से रखते हैं कि बालकों को इतिहास का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। वे इतिहास के पात्रों के पास ही खड़े-खड़े इतिहास का दर्शन करते हैं। कहानी के ज़रिए मिली इतिहास की जानकारियाँ भुलाए भूलती नहीं। कहानी के ज़रिए इतिहास पढ़ाने या सिखाने का अनुभव हर एक शिक्षक स्वयं ही करे।

आज इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में से कोई बिरली ही पुस्तक कहानी के रूप में लिखी होती है। शिक्षक पहले इतिहास की घटनाओं को पढ़ ले, और फिर उनको कहानी के रूप और रंग में सजाकर विद्यार्थियों के सामने पेश करे। कहानी के ज़रिए भूगोल के समान विषय भी, जो पढ़ाने में

बहुत अटपटा माना जाता है, बहुत अच्छी तरह से पढ़ाया जा सकता है। हमारे देश में भूगोल की कहानियों की ढंग की एक भी पुस्तक नहीं है। यूरोप के साहित्य में ऐसी पुस्तकें हैं। उनसे हमको जानकारी मिल सकती है। किन्तु यदि यह सम्भव न हो, तो हमारे पास हमारी अपनी ऐसी कल्पनाशीलता है कि हम भूगोल की बातों को कहानी के रूप में लिख सकते हैं। प्राथमिक विद्यालय में भूगोल सिखाने के लिए हम नीचे लिखे शीर्षकों वाली कहानियाँ तैयार कर सकते हैं।

1. द्वारिका से बम्बई तक की साइकल-यात्रा।
2. रामेश्वर से कश्मीर तक की विमान-यात्रा।
3. कलकत्ते से बम्बई तक की मोटर-यात्रा।
4. करांची से कोलम्बो तक की अगनबोट-यात्रा।
5. माचिस का व्यापार।
6. हिन्दुस्तान के सिंह।
7. ऊँटों का सम्मेलन।

ऐसी कहानियों में कुछ पात्रों की कल्पना करके उनके पास जैसी भौगोलिक हक़ीकतें आएँ, उनको ध्यान में रखकर पात्रों को यात्रा पर रवाना करना होता है। अथवा कहानी के रूप में उनसे काम करवाना होता है। 'वे मौत से खेले थे' (गुजराती 'रखडुटोळी') नामक कहानी भूगोल और विज्ञान की कहानी का एक बढ़िया उदाहरण है। शिक्षक को स्वयं कहानियों की रचना करनी है, और रची गई कहानी नक़शा दिखाते-दिखाते विद्यार्थियों को सुनानी है।

कहानी के द्वारा साहित्य की शिक्षा तो सरलता से दी जा सकती है। किसी सुन्दर कहानी का कथन साहित्य के सीधे परिचय का और अध्ययन का काम करता है। पुराने ज़माने में पौराणिक लोग कथाओं के द्वारा धर्म की और जीवन की शिक्षा दिया करते थे। आज भी गाँवों में नई उमर के लोग अपने बड़ों-बूढ़ों से बहुतेरी बातों की जानकारी कथा-कहानी के ज़रिए ही सरलता से पाते है। कथा या कहानी की पद्धति से पढ़ाने की रीति को फिर अधिक सजीव बनाने की आवश्यकता है, क्योंकि वह सस्ती और सरल है।

जिस तरह कथा-कहानी के ज़रिए विषयों की पढ़ाई की जा सकती है, उसी तरह उसके ज़रिए विषयों के प्रति अच्छी अभिरुचि भी जगाई जा सकती है। बड़े-बड़े संगीतज्ञों, चित्रकारों, शिक्षाविदों और राजनीतिज्ञों की कहानियाँ कह-कहकर हम उन-उन विषयों के प्रति विद्यार्थियों की रुचि को जाग्रत कर सकते हैं। संगीत, चित्रकला आदि के समान हर एक विषय की उत्पत्ति से जुड़ी हुई कहानियाँ भी होती हैं। उनको खोज कर उनका भी उपयोग किया जा सकता है।

कथा-पद्धति का भी अपना एक निश्चित स्वरूप होता है। मनमाने ढंग से मनमानी कहानी कहना कथा-पद्धति की मर्यादा में आता नहीं है। कथा-पद्धति का उपयोग करने वाले को कथा पसन्द करते समय कथा की वस्तु, कथा की रचना और कथा के रस आदि को समझ लेना चाहिए। कथा कहने की हथौटी यानी कला कथा-पद्धति की आत्मा है। इस हथौटी को पाने के लिए शिक्षक को कथा-कहानी के शास्त्र के साथ ही ढेर सारी कहानियों का ज्ञान भी होना चाहिए।

कथा-पद्धति का एक अति आवश्यक अंग कथा कहने की छटा है। कथन की इस छटा के बिना कथा-पद्धति लगभग निष्फल होती है। कथा-पद्धति का अत्यन्त अनावश्यक अंग है, कथा को कहलवाना। इस पद्धति से शिक्षा को सफल बनाना हो, तो कथा या कहानी कहने के बाद उसको फिर विद्यार्थियों से कहलवाना नहीं चाहिए।

कथा-पद्धति का सच्चा दुरुपयोग किण्डर गार्टन शाला में अंक या अक्षर सिखाने के लिए कहानी कहने में है। अथवा बीकन-पद्धति में शब्दों या वाक्यों को सिखाने के लिए कहानी का उपयोग करने में है।

:21:

चलचित्र-पद्धति

चित्र-दर्शन से शिक्षा देने अथवा चित्र दिखाकर जानकारी देने की प्रथा एक बहुत पुरानी प्रथा है। सचित्र गरुड़-पुराण स्वर्ग-नरक की सामूहिक शिक्षा का अन्तिम प्रयोग है। तीस-चालीस साल पहले 'बम्बई का खेल देखो,

रानी का महल देखो,' कह-कह कर यात्रा करने वाले साधु एक चलती-फिरती चित्र-पेटी में तरह-तरह के चित्र दिखाया करते थे। उससे भी कुछ देखने और जानने को मिलता था।

हाल ही विज्ञान की खोज के कारण दुनिया को चलचित्रों की एक बड़ी और अनमोल भेंट मिली है। इस भेंट के लाभ और इसकी हानियाँ आज सारी दुनिया को बराबर मिलती रहती हैं। इनके माध्यम से दुनिया के करोड़ों-करोड़ स्त्री-पुरुष अपने जीवन में शायद ही कभी देख सकें, ऐसे दुनिया के भूगोल और इतिहास की पल-पल में घटने वाली घटनाओं के दर्शन करते हैं, चलचित्र की खोज इतनी आगे बढ़ गई है कि देखने वालों को ऐसा लगता है, मानो दिखाई जाने वाली घटना हूबहू उनकी आँखों के सामने ही घट रही हो।

नाटकों की तरह इन चलचित्रों ने अधिक प्रभावकारी ढंग से, थोड़े समय में और थोड़े खर्च से लोक-शिक्षा का काम शुरू किया है। लोग उनमें साहसिकता, हिम्मत, प्रेम, न्याय आदि गुणों के दर्शन करते हैं। इसी के साथ वे चोरी, लबाड़ी, हरामखोरी आदि के दृश्य भी देखते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि चलचित्रों की शिक्षा ने अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की बातें जोर-शोर के साथ सिखानी शुरू कर दी है।

इसी के साथ सरकारों ने चलचित्रों के मुक्त प्रचार के विरोध में उन पर पाबन्दियाँ लगाना शुरू किया है। हर एक सरकार ऐसी पाबन्दी अपनी नीति, रीति और राजनीति को ध्यान में रखकर लगाती है। विचारक और शिक्षाशास्त्री कुछ चलचित्रों के बारे में अपनी नाराज़ी जाहिर करते हैं, और समाचार-पत्रों के ज़रिए जनता का ध्यान खींचते हैं कि कौनसे चलचित्र अच्छे हैं और कौनसे बुरे हैं।

अमेरिका में हर हफ्ते करोड़ों बालक चलचित्र-मन्दिरों में जाते हैं। अमेरिका में माता-पिता के लिए उपयोगी मासिक-पत्रों में उन चलचित्रों की सूची छापी जाती है, जो बालकों को दिखाने लायक माने जाते हैं। साहसी कम्पनियों ने बालकों के सिनेमाघर और बालकों के लिए खास फिल्में बनाना

शुरू किया है। भूगोल, इतिहास आदि विषयों की पढ़ाई में चलचित्रों की आवश्यकता को दिन-पर-दिन अधिक माना जाने लगा है।

हमारे देश में चलचित्र आ चुके हैं, किन्तु अभी बालकों के लिए उपयोगी चलचित्र आए नहीं हैं। जिस पर बड़ी उमर के लोग जो चलचित्र देखते हैं, उन चलचित्रों में से सब चलचित्र नन्हें बालकों के लिए देखने लायक नहीं होते। ऐसी स्थिति में जब माता-पिता को पता चले कि जो नई फिल्म आई है वह बालकों के लिए शिक्षा-प्रद और निर्दोष है, तो वे बालकों को अपने साथ अवश्य ले जाएँ। बालक प्रहसनों वाली फिल्में देखना पसन्द तो करते हैं, किन्तु निरे निरर्थक प्रहसन आज के ज़माने के विकृत मानस की एक फैशन है, इसलिए ऐसी प्रहसनों वाली फिल्मों से हमें अपने बालकों को दूर ही रखना चाहिए।

शिक्षा-शास्त्रियों को चाहिए कि वे शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी फिल्में विदेशों से भारत में मंगवाएँ और बड़े पैमाने पर उनका प्रचार करें। इससे आगे बढ़कर किन्हीं बालप्रेमी और साहसी धनवानों को बालकों के लिए उपयोगी चलचित्र भारत में ही बनाने का सिलसिला शुरू करना चाहिए।

पुस्तकों में छपी रूखी-सूखी जानकारी अथवा समझ में न आने लायक जानकारियों को हम चलचित्रों द्वारा बहुत अच्छी तरह बालकों के सामने रख सकेंगे और उनको समझा सकेंगे।

आज तो हम चलचित्र-पद्धति की हिमायत ही करें।

:22:

उस्ताद-पद्धति

इस पद्धति की सही जानकारी तो वे लोग दे सकते हैं, जिन्होंने उस्तादों अथवा गुरुओं के पास वर्षों तक पड़े रहकर, गुरु की अखण्ड सेवा करके, गुरु की प्रसन्नता पाकर, गुरु से कुछ प्राप्त किया है।

शिक्षा का एक सिद्धान्त यह भी है:

'तृषावन्त जो होएगा,
पीएगा झख मार।'

जिसको प्यास लगी होगी, वह झख मार कर पानी पीएगा। ज्ञान-सम्पन्न गुरु अथवा उस्ताद अपने ज्ञान की मस्ती में ज्ञान की अधिक-से-अधिक उपासना करते हुए पड़े रहते हैं। कला या ज्ञान के क्षेत्र में सिद्धि पाए हुए ऐसे उपासक को देखकर किसी के मन में प्रेरणा जाग जाती है कि ऐसी शक्ति मैं भी प्राप्त करूँ। गुरु तो अपनी मस्ती में मस्त रहता है। उसने कोई विद्यालय खोला नहीं है। उसके पास कोई पाठ्यक्रम, उपस्कर या पद्धति भी नहीं है। वह विद्यार्थी की खोज भी नहीं करता। जिस पिपासु की चर्चा आरम्भ में की है, वह आकर गुरु के चरणों में बैठ जाता है और अनन्य भाव से उसकी सेवा शुरू कर देता है। गुरु इतने ज्ञानवान तो हैं ही कि वे शिष्य के मन की बात को समझ लेते हैं। गुरु इस बात की पूरी परीक्षा कर लेते हैं कि शिष्य को ज्ञान की कितनी भूख है। जो शिष्य इस परीक्षा में पास हो जाता है, गुरु उस पर अपने को न्योछावर कर देते हैं और उसको जो भी जानना होता है, सो एक पल में भी सिखा देते हैं।

विद्यार्थी को कई कसौटियों में से गुजरना होता है। वह अपने मुँह से कभी यह कहता ही नहीं कि गुरु द्वारा उसको सौंपा गया काम उचित है या अनुचित है। शिष्य के मन में यह प्रश्न तक नहीं उठता कि गुरु उसको कब सिखाएँगे। शिष्य यह भी नहीं सोचता कि गुरु उसको सिखाने के बदले दूसरी ही बात क्यों कहते हैं, और दूसरा ही काम क्यों सौंपते हैं ? विद्यार्थी तो मन में श्रद्धा रख कर गुरु के प्रेम की खोज में रहता है। अपने उस्ताद के रंग-बिरंगेपन में उसको रहस्य के दर्शन होते हैं। उस्ताद की अनगढ़ता में उसको चमत्कार दिखाई पड़ता है। इधर क़ाबिल उस्ताद विद्यार्थी की निष्ठा की जाँच करने के लिए उसको अनेक अटपटे काम सौंपते हैं, और कई बार खुद भी जान-बूझ कर अपने कौ उल्लू-सा दिखाते हैं। इन सब बातों के उस पार जाकर, बादलों की आड़ में छिपे सूर्य के बारे में जैसी अविचल श्रद्धा होती है, वैसी ही अविचल श्रद्धा जिसके मन में गुरु की शक्ति के बारे में होती है, वह विद्यार्थी अन्त में अपने गुरु की प्रतिभा का दर्शन करता है। और, दर्शन के साथ वह स्वयं भी प्रकाशित हो उठता है।

प्राचीन काल के गुरु इस प्रकार अपने विद्यार्थियों को सिखाते थे। इस एक ही प्रकार में अनेकानेक पद्धतियों का समावेश हो जाता था। गुरु विद्यार्थी की व्यक्तिगत शक्ति, दृढ़ता आदि का पता लगा कर उस पर से उसको उसके व्यक्तिगत विकास और उन्नति का मार्ग दिखाते थे। इस कारण किसी को वर्षों तक और किसी को कुछ ही महीनों तक गुरु के आश्रम में रहने पर विद्या प्राप्त होती थी। गुरु विद्यार्थियों के प्रति समान भाव रखते थे, और उनको समान भाव से पढ़ाते थे। जड़ और प्राज्ञ दोनों प्रकार के विद्यार्थियों में गुरु अपना समान प्रतिबिम्ब डालते थे, और विद्यार्थी की मूल शक्ति अथवा वृत्ति के प्रत्याघात को देख कर अपनी शिक्षा की सफलता या विफलता का अनुमान लगाते थे। विद्यार्थी और गुरु के बीच जो सम्बन्ध रहता था, वह प्रेम का होता था। और यह प्रेम ही विद्यार्थी के और गुरु के स्थान को बड़े और छोटे के रूप में, अग्रज और अनुज के रूप में, और बुजुर्ग और बालक के रूप में अंकित करता था।

यह कहना कठिन है कि इस पद्धति में सिखाने की कौनसी रीति के लिए स्थान था और कौनसी के लिए स्थान नहीं था। गोद में बैठा कर सिखाने वाले गुरु कभी डण्डा मार कर भी सिखाते थे। अपने मुंह से पाठ देकर सिखाने वाले गुरु कभी मौन व्याख्यान के द्वारा भी सिखाते थे। बुद्धि के अभिमानी शिष्य को वे बारह बरस में भी नहीं सिखाते थे, जब कि सहृदय किन्तु मूर्ख शिष्य को वे एक दिन में भी सिखा देते थे।

यह पद्धति तो पद्धतियों की भी पद्धति है। जो इस पद्धति को विकसित करना जानते हैं, वे सद्गुरु हैं। और जो इसको सहन कर सकते हैं, वे सत् शिष्य हैं। आज भी ऐसे गुरु-शिष्य इस प्रथा के माध्यम से ठेठ आत्मज्ञान तक का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं।